तृतीय पाठ

स्वतंत्रता की उपलब्धि

दूसरे विश्वयुद्ध के ठीक पहले के पांच वर्षों में भारत में पर्याप्त ढंग से नया चिंतन चलता रहा। यद्यपि लोग राष्ट्रवादिता, साम्राज्यवाद विरोध और अंततः स्वतंत्रता प्राप्त करने के आदर्शों से पूरी तरह प्रतिबद्ध थे, लेकिन उनमें से सभी ने न तो कांग्रेस के कार्यक्रम और कार्यविधि को स्वीकार किया था और न ही चिंतन का साफ—साफ ध्रुवीकरण हुआ था। न सिर्फ गैर—कांग्रेसी नेताओं और गुटों ने विभिन्न विचारधाराओं और काम करने के तरीकों की पैरवी की थी बल्कि स्वयं कांग्रेस के भीतर राजनीतिक चिंतन की दो समानांतर धाराएं विकसित हुईं और दोनों की शक्ति में वृद्धि हुई थी।

इस नये चिंतन का पहला परिणाम एक अर्थ में अनिवार्यतया नकारात्मक था। यह महसूस किया गया कि एक क्रांतिकारी शक्ति के रूप में क्रांतिकारी आंदोलन चुक गया है। ब्रितानी शासन को खत्म करने के उद्देश्य से जनता को एक राष्ट्रीय विद्रोह के लिए उभारने में से सफलता नहीं मिली। ज्यादातर क्रांतिकारीयों को फांसी पर लटका देने या जेल में डाल देने या उसके कम्युनिस्ट और दूसरे आंदोलनों में शामिल हो जाने के कारण क्रांतिकारी आंदोलन समाप्तप्राय हो गया।

सकारात्मक पक्ष में स्पष्टता समझने योग्य तीन प्रवृज़ियां थीं : (1) कांग्रेस के भीतर और बाहर समाजवादी विचारों का प्रसार, (2) मज़दूर संघ आंदोलन का विकास जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन से बिल्कुल स्वतंत्र था और (3) किसान आंदोलन जो बढ़ गया था।

सन् 1929 में अमरीका में काफी बड़ी आर्थिक मंदी थी। यह मंदी अनिवार्यता दूसरे पूंजीवादी देशों में भी फैली। उत्पादन में तेजी से कमी आई और विदेश—व्यापार चिंताजनक सीमा तक गिर गया। इसकी वजह से भयंकर आर्थिक संकट पैदा हुआ। बड़े पैमाने पर बेरोजगारी बढ़ी। इस प्रवृत्ति के उल्टे रूस की तस्वीर बहुत आशाजनक थी। दो पंचवर्षीय योजनाओं के पूरा होने के साथ वहां के उत्पादन में चौगुनी वृद्धि हो गयी थी। अंतर बहुत साफ था। उसने कम्युनिस्ट नमूने के समाजवाद और आर्थिक योजनाओं के लाभ की ओर ध्यान खींचा।

बाहरी दुनिया के इन विकासों ने भारत का भी ध्यान पर्याप्त ढंग से आकृष्ट किया। परिणाम यह हुआ कि समाजवादी विचारों ने आम जनता और नेता दोनों को नये तरीके से सोचने के लिए सक्रिय किया। युवक, मज़दूर और किसान इस नयी विचारधारा की ओर खास तौर से आकर्षित हुए थे।

कांग्रेस के भीतर इस नयी वामपंथी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप जवाहरलाल नेहरू सन् 1936 और 1937 में लगातार दो बार कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। उनके बाद आये सुभाषचंद्र बोस जो स्वयं

अपने क्रांतिकारी चिंतन के लिए मशहूर थे। सन् 1938 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर उनका चुनाव हुआ। फिर सन् 1939 में भी गांधीजी और उनके बहुत से अनुयायियों के विरोध के बावजूद वह अध्यक्ष पद के चुनाव में जीते। सन् 1936 में लखनऊ अधिवेशन में नेहरू ने कांग्रेस के उद्देश्य के रूप में समाजवाद की स्वीकृति की वकालत की थी। यह भी कहा था कि जनता को सांप्रदायिकता से अलग रखने का यही सबसे अच्छा तरीका है। अध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने कहा :

मैं इस तथ्य का कायल हूँ कि हिन्दुस्तान की और दुनिया की समस्याओं के हल की कुंजी समाजवाद में निहित है और जब मैं इस शब्द का इस्तेमाल करता हूं तो वह इस्तेमाल वैज्ञानिक और आर्थिक अर्थ में होता है, एक अस्पष्ट मानवतावादी तरीके से नहीं....... उसमें हमारे राजनीतिक और समाजिक ढांचे के व्यापक और क्रांतिकारी परिवर्तन, भूमि और उद्योग में निहित स्वार्थ, और उसके साथ ही भारतीय रियासतों की सामंती तथा स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्था की समाप्ति (बेशक एक सीमित अर्थ में वह बनी रह सकती है) और वर्तमान मुनाफाखोरी की प्रणाली के स्थान पर सहकारिता की सेवाओं के एक उच्चतर आदर्श की स्थापना। इसका मतलब है हमारी इच्छाओं, आदतों और प्रवृत्तियों में अंतत परिवर्तन अर्थात् वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था से आमूल भिन्न एक नयी सत्यता का उद्भव।

वह समाजवादी प्रवृत्ति कांग्रेसी नेतृत्व के बाहर भी समान ढंग से प्रत्यक्ष थी। उसकी वजह से कम्युनिस्ट पार्टी का विकास और कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना हुई। प्रारम्भिक दिनों में कम्युनिस्ट पार्टी ने पी. सी. जोशी के नेतृत्व में काम किया। कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना आचार्य नरेन्द्र देव और जयप्रकाश नारायण ने सन् 1934 में की। इसका एक संगठन था, एक पत्रिका। इसने स्पष्ट किया था कि पूर्ण स्वराज इसका लक्ष्य है। वह कांग्रेस को 'समाजवादी सिद्धांत' मनाने के लिए विवश करने को प्रतिबद्ध थी। केरल, आंध्र और तमिलनाडु में कांग्रेस समाजवादी नेता उत्तर भारत के अपने जैसा नेताओं की तुलना में मार्क्सवाद के अधिक नजदीक पहुंच गये।

दमन के कारण मज़दूर संघ का आंदोलन भी हुआ। कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगाने के बाद सन् 1934 के अंतिम दिनों में सरकार ने रेड फ्लैग मज़दूर संघ (आर. एफ. टी. यू. एफ.) पर भी प्रतिबंध लगा दिया। अतः मेरठ के मुकद्दमे के अंत में जो कम्युनिस्ट जेल से छूटे उनके सामने सिवाय इसके कोई दूसरा विकल्प नहीं था कि वे *अखिल भारतीय मज़दूर संघ में कांग्रेसियों और* रायवादियों (एम. एन. राय) की बहुलता था। वे लोग अल्पमत में थे। इसी बीच जोशी चमनलाल और मृणालकांति बोस के नेतृत्व वाले भारतीय राष्ट्रीय मज़दूर महासंघ (आई. एन. टी. यू. एफ.) का अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी महासंघ (ए. आई. आर. एफ.) में विलय हो गया। इसके नेता वी. वी. गिरि थे। उस समय कांग्रेस में जिस तरह की राष्ट्रवादिता प्रचलित थी, उसके अनुसार श्री

गिरि और श्री बोस एक दूसरे के अधिक नजदीक थे। एक संयुक्त संगठन स्थापित किया गया जिसका नाम राष्ट्रीय मज़दूर महासंघ (एन. टी. यू. एफ.) पड़ा। इस संगठन को राष्ट्रवादी वर्ग के उन वामोन्मुख व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त था जो कम्युनिस्टों या एम. एन. राय और उसके अनुयायियों के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सके थे।

रेड फ्लैग मज़दूर महासंघ पर प्रतिबंध लगाने के पहले तीनों महासंघों ने एक सीमित ढंग से सन् 1934 की गर्मियों में उन कपड़ा मिल मज़दूरों के हड़ताल के आयोजन में हिस्सा लिया था। जिनकी मज़दूरी से बड़ी कटौती कर दी गयी थी। हड़ताल में लगभग 1 लाख 20 हजार मज़दूरों ने हिस्सा लिया था। पुलिस का दमन, दक्षिणपंथी मज़दूर संघ के नेताओं का उदासीन रुख और हड़ताल के दौर में बेरोजगार मज़दूरों की अस्थायी भर्ती। उन दिनों अकेले बंबई में 90 हजार बेरोजगार मज़दूरों के कारण हड़ताल जून में असफल हो गयी थी।

इस दौर में एक तीसरी प्रवृत्ति भी विकसित हुई थी। वह थी शैशवकालीन किसान आंदोलन में गांधीवाद, कांग्रेसी समाजवाद और साम्यवाद के प्रसार की। सन् 1920—30 के बीच की मज़दूर और किसान पार्टियों तथा 1929—31 की मंदी के कारण स्वतः चल पड़ने वाले किसानों के विरोध आंदोलन को विलिंग्डन के कुचल दिया था। इधर कुछ जिलों के किसान नेताओं ने मैदान में आकर पुनः अपनी गतिविधियां चलानी शुरू कीं।

बिहार में सहजानंद सरस्वती ने एक प्रभावशाली स्थानीय किसान सभा का संगठन करके उन वामोन्मुख भूमिसुधार कार्यक्रमों की पैरवी की जो उ त्तर प्रदेश में पहले ही लोकप्रिय हो चुके थे। एक दूसरे प्रमुख किसान नेता कार्यानंद शर्मा थे जिन्होंने बिहार के पिछड़े जिलों में बाद के वर्षों में प्रभाव अर्जित किया। पश्चिमो त्तर सीमा प्रांत में खुदाई खिदमतगारों और दक्षिणी महाराष्ट्र में रायवादियों ने किसानों की मांगों को फिर से उठाया। हैदराबाद की बड़ी क्षेत्रफल वाली देशी रियासत में स्वामी रामानंद तीर्थ ने दक्षिणी महाराष्ट्र से लगे हुए जिलों के गरीब किसानों के शोषण का प्रतिरोध किया। उन्होंने महाराष्ट्र जिले के एक गांधीवादी स्कूल से जीवन शुरू किया, बंबई शहर में मज़दूर संघ आंदोलन के सुधारवादी खेमे में शामिल हुए और फिर औरंगाबाद जिले में गांधीवादी ग्राम कल्याण संघ की स्थापना की। स्वामी रामतीर्थ के प्रयत्नों ने ही बाद के वर्षों में हैदराबाद राज्य जन कांग्रेस के लिए एक व्यापक किसान आधार तैयार किया। इसी जन कांग्रेस ने सन् 1947 के बाद हैदराबाद को भारतीय संघ में मिलाने के संघर्ष का नेतृत्व किया। दक्षिण भारत के जातीय संगठनों ने नगरपालिकाओं और जनतांत्रिक स्वशासी सरकारों में अपेक्षाकृत अधिक हिस्सेदारी की मांग की थी। इन संगठनों में उ त्तरी तमिलनाडु के वन्नियार (जिसमें अनुसूचित जाति के सदस्यों का संख्यात्मक बहुमत था) दक्षिणी तमिलनाडु (संज्यात्मक दृष्टि से बहुमत में) के नाडार और थेवर और केरल के इराव प्रमुख थे। दक्षिण—पश्चिमी बंगाल के मानभूमि और पुरुलिया तथा बिहार के रांची और सिंहभूम जिलों में

गांधीवादी कार्यक र्ताओं ने पिछड़े किसान वर्ग में गांधी जी की राष्ट्रवादिता और अहिंसा के आदर्शों के प्रचार का काम शुरू कर दिया था। ये विचार कभी—कभी सुविधाहीन आदिवासियों तक पहुंचे। छोटा नागपुर में तानाभगत आदिवासी विरोध आंदोलन चला जिसने बाद में गांधी महाराज नाम से एक पंथ बनाया। आसाम से लगे हुए नागालैंड में अपने एक धर्मप्रचारक के नेतृत्व में कुछ नागों ने ब्रितानी शासन के विरुद्ध हिंसक विद्रोह किया। धर्मप्रचारक ने गिडालो नाम की युवा बालिका को उनकी रानी घोषित किया। लोग मानते थे कि गिडालो को दैवी शक्ति प्राप्त है। उस रानी ने राष्ट्रवादी आंदोलन को समर्थन देने की घोषणा की। सन् 1930—40 के अंतिम वर्षों में एक धार्मिक विद्वान् मौलाना अब्दुल हमीद खां भाशानी ने दक्षिणी आसाम के सिलहट जिले में एक शक्तिशाली किसान आंदोलन संगठित किया जो पड़ोसी जिले मैमनसिंह (पूर्व बंगाल) तक फैला।

ये सारे आंदोलन न तो एकबद्ध थे, न ही कांग्रेस के नियंत्रण में। बहुत सी किसान सभाओं का नेतृत्व कांग्रेस समाजवादियों ने किया था। कभी—कभी कुछ आंदोलनों को प्रेरणा और नेतृत्व कम्युनिस्ट संगठनों ने दिया। प्रमाण के लिए सन् 1937 का बंगाल का तारकेश्वर सत्याग्रह और त्रावणकोर राज का वायला सत्याग्रह। जहां कहीं पर नेतृत्व कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक र्ताओं के हाथ में था, वहां कुल मिलाकर किसानों की जागृति में राष्ट्रवादी और सुधारवादी रंगत थी। दूसरे क्षेत्रों में किसानों के लगाव का संबंध स्थानीय वर्ग समस्या से था। यदि राष्ट्रवादी आंदोलन से उसका कोई संबंध था तो वह सहज आकस्मिक और बहुत दूर का था। इनमें से कुछ आंदोलनों में धार्मिक नेतृत्व आश्चर्यजनक ढंग से विद्यमान था। पिछड़े इलाकों में किसान तबके की भावना जब—तब अधकचरी नैतिकता के नारों से बहुत अधिक उत्तेजित हो उठती है। इस नैतिकता की गुहार लगाने वाले उनके धर्म, जाति या कबीले के स्थानीय गुरू और पुरोहित होते हैं। अनेक देशों के मुक्ति आंदोलनों के इतिहास में शोषण का परोक्ष रूप से विरोध करते हुए किसानों के बीच धर्म की गुहार के उदाहरण प्रायः मिलते हैं।

इसी के साथ—साथ ऐसे बहुत से राजनैतिक कार्यक र्ता, जो ग्रामीण किसान वर्ग, को शिक्षित और संगठित करने में लगे हुए थे, कम्युनिस्टों और कांग्रेस समाजवादियों द्वारा प्रस्तुत मार्क्सवादी विचारधारा से तीव्रता के साथ प्रभावित हुए। प्रदर्शन के संयुक्त राजनैतिक मोर्चों ने दोनों को एक ही जगह पर मिलने का अवसर दिया। इसी तरह जब कभी बड़ी संख्या में राजनैतिक कैदियों को एक जगह रखा गया, उनमें आपस में संपर्क स्थापित हुए। प्रणाम के लिए हिजली और बक्सर के नजरबंदी कैंप या मांडले और अंडमान के जेल। बहुत से गांधीवादियों और क्रांतिकारीयों को जेल की सजा के दौरान किताबें और प्रचार—पुस्तिकाएं पढ़ने का समय मिला और उनसे प्रभावित होकर वे अहिंसावाद, वामपंथ और सामूहिक दुस्साहसी वीरता छोड़कर वर्ग संघर्ष की मार्क्सवादी अवधारणा में विश्वास करने लगे। मई दिवस के अवसर पर सन् 1935 में अंडमान जेल के 31 नजरबंदों ने (जिनमें भगत सिंह के शेष साथी भी शामिल थे) कम्युनिस्ट समन्वय (समिति) की स्थापना की।

बाद के दिनों में अंडेमान में बंद चिटगांव गुट के कुछ सदस्य भी साम्यवाद की ओर झुक गये। लेकिन इनकी संख्या गांवों में लगे हुए उन राजनैतिक कार्यकर्ताओं की तुलना में बहुत कम थी जो गांधीजी की सर्वोदय विचारधारा के व्याख्याकार थे।

ये ही वे सामान्य प्रवृत्तियां थीं जिनके संदर्भ में मुक्ति संग्राम में नये समझौते विकसित हुए।

राष्ट्रीय संघर्ष और रियासती जनता के आंदोलन

ब्रितानी भारत का शासन सीधे वायसराय की कार्यकारी सत्ता द्वारा होता था। देश के शेष भाग में रजवाड़ों के अनेक राज्य थे जिन्हें अंग्रेज देशी रियासतें कहते थे। कुछ रियासतें क्षेत्रफल में बहुत बड़ीं थी और उनकी जनसंख्या विशाल थी। कुछ बहुत छोटी थी और उनकी जनसंख्या भी उसी अनुपात में कम थी। वे सारे देश में और ब्रितानी भारत में बिखरी हुई थी। उनका शासन स्वयं रजवाड़ों और जागीरदारों के माध्यम से अंग्रेज करते थे।

रियासतों में रजवाड़ों का शासन स्वेच्छचारी था। उनमें से अधिकतर इस बात का ध्यान रखते थे कि ब्रितानी शासकों से उनके संबंध अपेक्षित विनयी मर्यादा के साथ बने रहें। कुछ ने ऐसा नहीं किया। ब्रितानी अधिकारी इस वजह से नाराज हुए। ऐसे राजाओं को परिणाम भुगतना पड़ा अर्थात रियासत पर से उनका अधिकार जाता रहा। लेकिन ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि भारत में ब्रितानी शासन और उनके प्रभाव ने प्रतिक्रियावादी, सामंती, निरंकुश शासन का रूप लिया। इसे अधिकतर रियासतों में न केवल बरकरार रखा गया वरन् वह निरंतर चलता रहा। कुछ मिलाकर वहां पर जनतांत्रिक सरकार के चिन्ह अत्यंत कम थे। रजवाड़े और उनके सामंत—सरदार जिस शानशौकत, ऐश्वर्य और फिजूलखर्ची का जीवन जीते थे, उसके मुकाबले में जनता के रहन का स्तर एक दम गिरा हुआ था। सामान्य परिस्थितियों में आंतरिक विद्रोह या बाहरी प्रभाव के कारण एक भ्रष्ट और निरंकुश राजा की गद्दी छिन जाती थी। भारत में रजवाड़ों के मामले में ब्रितानी सरकार ने इन दोनों स्थितियों को असंभव कर दिया। रजवाड़ों ने अपने सुरक्षित महसूस किया और अपनी सामंती स्थिति की जड़ें गहरी कर लीं।

इन असंतोषजनक और प्राय: अंतविरोधी परिस्थितियों ने रियासतों में स्थानीय संगठनों को जन्म दिया जिनके माध्यम से वहां की जनता की आम बेचैनी का अक्स सामने आया। उन संगठनों को आमतौर पर प्रजामंडल कहा गया। मैसूर में एक राज्य कांग्रेस थी। वे सभी संगठन स्थानीय थे और उनका संबंध अपनी रियासत विशेष के मसलों तक सीमित था। प्रथम विश्वयुद्ध में अपनी तरफ से रजवाड़ों ने जो सैनिक दस्ते भेजे थे, उनके सिपाहियों ने लौटने पर अपनी रियासतों में जनतांत्रिक विचारों के प्रसार में मदद की। इसके अलावा आंदोलन ने एक गहरा प्रभाव पैदा किया।

सन् 1920 में पहली बार कांग्रेस ने नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में राजाओं से तत्काल अपनी—अपनी रियासतों में पूर्णतया लोकप्रिय सरकार स्थापित करने की मांग की। लेकिन इसी के साथ कांग्रेस के प्रस्ताव में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि रियासत के लोग निजी तौर पर कांग्रेस का सदस्य बन सकते हैं लेकिन उस सदस्यता के नाम पर वे अपनी रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। अगर वे ऐसा करना चाहते हों तो निजी हैसियत से कर सकते हैं, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नाम पर नहीं। कांग्रेस के आंग्ल—भारतीय सदस्यों पर भी यह शर्त लागू थी। आमतौर पर कांग्रेस की मान्यता थी कि रियासतों में राजनैतिक गतिविधियों का संगठन और नियंत्रण वहां के स्थानीय प्रजामंडलों द्वारा होना चाहिए।

ब्रितानी सरकार ने सभी रजवाड़ों को मिलाकर एक शुद्ध सलाहकार संस्था का गठन किया था, जिसे नरेंद्र मंडल कहा जाता था। उद्देश्य था: सरकार से उनके संबंधों का मानकीकरण। यह मंडल रजवाड़ों को विभिन्न श्रेणियां दिये जाने से पैदा विवादों के कारण अपने आप में ही विभाजित था। साइमन आयोग की नियुक्ति के ही साल में सरकार ने 'हरकोर्ट बटलर भारतीय रियासत समिति' की भी नियुक्ति की थी। समिति का काम रियासतों और केन्द्र सरकार के बीच बेहतर संबंध स्थापित करने के उपायों की सिफारिश करना था।

सरकार की इस कार्रवाई के जवाब में रियासती जनता के राष्ट्रवादियों तथा कठियावाड़ के बलवंत राय मेहता और मणिलाल कोठारी और दक्षिण के जी. आर. अभयकर ने दिसंबर, 1927 में अखिल भारतीय रियासती जनता (ए. आई. एस. पी. सी.) सम्मेलन किया। यद्यपि सम्मेलन पश्चिमी भारत की प्रेरणा पर आधारित था, फिर भी उसमें देश भर के 700 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। रियासती जनता सम्मेलन का उद्देश्य वहां की सरकारों पर रियासत के लोगों के जनमत के बल पर प्रशासन में आवश्यक सुधार लाने के लिए प्रभाव डालना और सभी रियासतों में निर्वाचक सिद्धांत के अंतर्गत जन प्रतिनिधित्व द्वारा स्वशासी सरकार स्थापित करना था। सम्मेलन ने सार्वजनिक राजस्व और राजा की निजी आमदनी के अंतर को स्पष्ट कराना भी चाहा। निजी खर्च में जनता के धन के दुरूपयोग को रोकने के लिए यह आवश्यक था। सम्मेलन ने कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग कर देने की भी पैरवी की ताकि निरंकुश ढंग से शासन करने के अधिकार समाप्त हो जायें। सम्मेलन की अंतिम मांग ब्रितानी भारत और देशी रियासतें के बीच संवैधानिक रिश्तों की स्थापना की थी जिसमें वहां की जनता की आवाज का प्रभाव हो। यह इसलिए किया गया ताकि ऐसा करने से सारे भारत के लिए स्वराज की उपलब्धि की अवधि कम हो जाएगी।

लगभग दिसंबर, 1927 के पहले आयोजन के साथ ही सम्मेलन एक स्थायी राजनीतिक संगठन हो गया। वह निरंतर सामंत विरोधी रहा लेकिन कांग्रेस की तरह स्पष्टतया साम्राज्यवाद विरोधी नहीं। कारण यह था कि जहां तक रियासतों की जनता का संबंध है, सामंती प्रणाली ही अधिक प्रत्यक्ष रूप में उनका शोषण कर रही थी। इस तथ्य को काफी हद तक स्पष्ट भी किया गया।

सम्मेलन की स्थापना का एक तत्कालिक परिणाम यह हुआ कि रियासतों की जनता का संघर्ष, स्थानीय घटना और अपने आप में कटी हुई या सीमित चीज़ न रहकर अखिल भारतीय महत्व का हो गया। जवाहर लाल नेहरू ने लाहौर कांग्रेस के अध्यक्ष पद से पूर्ण स्वराज के बारे में बोलते हुए आधिकारिक घोषणा की :

भारतीय रियासतें शेष भारत से अलग होकर नहीं रह सकतीं। रियासतों के भविष्य का निर्धारण करने का अधिकार जिस जनता को है, वह जनता निश्चय ही उन रियासतों की ही होगी।

सन् 1929 की कांग्रेस ने भी रियासती जनता सम्मेलन की मांगों का अनुमोदन किया था।

कांग्रेस के इस दृढ़ मत का, कि रियासतों को पूरे भारत का अभिन्न अंग मानना चाहिए, सीधा परिणाम यह हुआ कि सम्मेलन ने ब्रितानी सरकार से यह स्वीकार करने का आग्रह किया कि पहले गोलमेज सम्मेलन में रियासती जनता का प्रतिनिधित्व हो। आग्रह स्वीकार नहीं किया गया। तब रियासती सम्मेलन ने कांग्रेस को एक स्मरण पत्र भेजकर एक ऐसे अखिल भारतीय संघीय संविधान की पैरवी की जिससे कराची कांग्रेस द्वारा ब्रितानी भारत के लिए मांगे गये मौलिक अधिकारों और सुविधाओं को रियासत की जनता भी प्राप्त कर सके। इस प्रकार सामंत विरोधी आंदोलन का जनतंत्रीकरण हो गया और वह राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ गया।

लेकिन गांधीजी ने सन् 1920 के आंदोलन में हस्तक्षेप न करने वाली नीति पर बल दिया। उनका तर्क था कि बाहर से शुरू किया हुआ आंदोलन सफल नहीं हो सकता और रियासत की जनता को आत्मनिर्भरता की सीख लेनी चाहिए। यों उन्होंने कांग्रेस के इस प्रस्ताव को प्रोत्साहन दिया है कि रजवाड़ों को अपनी प्रजा को मौलिक अधिकार देना चाहिए।

सन् 1935 के भारतीय विधेयक में संघीय सिद्धांत को मान्यता दी गयी। लेकिन प्रस्तावों में जोड़—तोड़ करके ऐसी स्थिति पैदा कर दी गयी जिसमें रियासतों को राष्ट्रवादिता के तकाजों की राह में अवरोध के रूप में इस्तेमाल किया गया। यह न केवल आनुपातिक प्रतिनिधित्व के मान्य स्वरूप के अनुसार नहीं था वरन् रियासतों के प्रतिनिधि भी रियासती जनता के वास्तविक प्रतिनिधि नहीं थे। वे शासकों द्वारा सिर्फ मनोनित किये जाने वाले थे।

बहुत सी रियासतों, विशेषकर राजकोट, जयपुर, कश्मीर, हैदराबाद और त्रावणकोर में उल्लेखनीय आंदोलन हुए और उनमें मांग की गयी कि जनतांत्रिक सिद्धांतों को स्वीकार किया जाना चाहिए और सरकारी प्रशासन का पुनर्गठन होना चाहिए। रजवाड़ों ने उसका जवाब निर्मम दमन से दिया। उनमें से कुछ के जनविद्रोह की आंधी को सांप्रदायिक भावनाओं की ज्वाला में बदलने की कोशिश की। प्रमाण के लिए हैदराबाद के नवाब ने जन आंदोलन पर मुस्लिम विरोधी आंदोलन का ठप्पा लगाने की कोशिश की। ठीक इसी तरह कश्मीर के महाराजा ने जन आंदोलन को हिंदू विरोधी सिद्ध करने

की कोशिश की। त्रावणकोर में शगूफा छोड़ा गया कि आंदोलन के पीछे ईसाइयों और उनके धर्मगुरुओं का हाथ है जो हिंदू महाराजा को गद्दी से उतार देना चाहते हैं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने रियासती जनता को उसके संघर्ष में समर्थन देना शुरू कर दिया था। उसने जनतांत्रिक सरकार की स्थापना और जनता को नागरिक अधिकार देने की मांग की। स्वतंत्रता की बात करते हुए कांग्रेस ने स्पष्ट कर दिया था कि उसका अंतिम लक्ष्य भारत के सभी लोगों की स्वतंत्रता है और उसमें रियासतों की जनता भी शामिल है। त्रिपुरा कांग्रेस (1938) ने फैसला किया था कि संगठन को अपने को रियासती आंदोलन से निकट से संबद्ध करना चाहिए। सारे भारत के लोगों को समान आकांक्षाओं का महत्व सिद्ध करने के लिए रियासती सम्मेलन ने सन् 1939 में जवाहर लाल नेहरू को अपना अध्यक्ष चुना। रियासतों के आंदोलन से न केवल वहां की जनता की राजनैतिक चेतना में गर्मी पैदा हुई बल्कि उसी की वजह से भारत की एकता की धारणा को नयी व्यापकता मिली।

अंतर्राष्ट्रीय मामलों में दिलचस्पी

यह दौर सन् 1935—40 के बीच का था, जब आम तौर पर राष्ट्रवादी आंदोलनकारियों और खासतौर पर कांग्रेसी नेताओं ने अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अधिक सजगतापूर्वक दिलचस्पी लेना शुरु किया। उन्होंने विदेशी घटनाओं को भारतीय संदर्भों से जोड़कर यह जानने की कोशिश की कि उनका यहां की जनता पर क्या प्रभाव पड़ता है। शुरू से ही भारतीय नेताओं ने विदेशों में (विशेषकर अफ्रीका और एशिया में) ब्रितानी साम्राज्य के हितों की अभिवृद्धि में भारतीय सेना और उसके साधनों के इस्तेमाल पर आपत्ति की थी। इस विरोध ने सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना के साथ ही उसकी नीति का एक स्पष्ट रूप ले लिया था। इसका सीधा नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस ने देश के लिए एक ऐसी विदेश नीति भी बनानी शुरू कर दी जो ब्रिटेन के बजाय उसके हितों की सिद्धि करे। आमतौर पर इस नीति ने साम्राज्यवाद के सभी रूपों का विरोध किया। फरवरी, 1927 में जवाहरलाल नेहरू ब्रुसेल्स में आयोजित दलित राष्ट्रों की कांग्रेस में शामिल हुए। इस सम्मेलन का आयोजन एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमरीका के उन देशों के क्रांतिकारियों और निर्वासित राजनीतिक शोषण से पीड़ित थी। ब्रुसेल्स कांग्रेस ने साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए एक समान योजना को समन्वित करना चाहा। नेहरू उसमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से शामिल हुए थे। कांग्रेस को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा :

> *हम महसूस करते हैं कि पराधीन, अर्धपराधीन और दलित लोग आज जो संघर्ष चला रहे हैं, उसमें बहुत कुछ एकसमान है। उसके दुश्मन प्रायः हैं हालांकि वे कभी—कभी दूसरे वेश में दिखाई देते हैं। वे लोगों को अधीन करने के लिए जिन साधनों का इस्तेमाल करते हैं वे भी प्रायः एक जैसे ही होते हैं।*

इसी ब्रुसेल्स कांग्रेस में साम्राज्यवाद विरोधी लोगों की स्थापना हुई। नेहरू जी उसकी कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य चुने गये। उसी साल के अंतिम दिनों में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में एक उत्तेजनापूर्ण बहस—मुबाहिसे के बाद सरकार को स्पष्ट चेतावनी दी गयी कि भारत साम्राज्यवादी लक्ष्यों की सुरक्षा या अभिवृद्धि के लिये किया जाने वाला युद्ध या युद्ध जैसी कार्रवाईयों में समर्थन देने तैयार नहीं होगा।

सन् 1930 और 40 के बीच कांग्रेस साम्राज्यवाद के (चाहे वह दुनिया के किसी भी हिस्से में हो) विरोध के अपने निर्णय में अधिक से अधिक दृढ़ होती गयी। उसने अफ्रीकी और एशियाई देशों के राष्ट्रवादी आंदोलनों का खुला समर्थन किया। इस समय तक जनतंत्र के लिए एक नये खतरे के रूप में इटली, जर्मनी और जापान में फासिस्टवाद का उदय होने लगा था। अपने खुद के उन्मादी तरीके में फासिस्टवाद साम्राज्यवाद का एक रूप था। अवधारणा में यह भी रंगभेद का हिमायती था। अतः कांग्रेस ने इथियोपिया, स्पेन और चेकोस्लोवाकिया के फासिस्टवाद—विरोध को मुक्त समर्थन दिया। सन् 1937 में जापान ने चीन पर आक्रमण किया। कांग्रेस ने इसे एक साम्राज्यवादी आक्रमण कहा और एक प्रस्ताव पास करके भारतीय जनता से मांग की कि वह चीनी जनता की सहानुभूति में जापानी वस्तुओं के इस्तेमाल से मुंह मोड़ ले। दूसरे साल अर्थात् सन् 1938 में डॉ॰ एम. अटल के नेतृत्व में एक चिकित्सा मिशन चीनी सेना के साथ काम करने के लिए चीन भेजा गया। मिशन में डॉ॰ कोटनीस भी शामिल थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की यह नीति उस स्वकृति का परिणाम थी कि एशिया और अफ्रीका के देशों का भविष्य एक दूसरे से जुड़ा है और फासिस्टवाद तथा स्वतंत्रता, समाजवाद और जनतंत्र के बीच से आसन्न संघर्ष का भारत पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। यद्यपि इन विचारों से अधिकांश भारतीय नेता सहमत थे लेकिन विदेशी मामलों में उनके मुज़्य प्रवक्ता जवाहरलाल नेहरू थे। इस विषय में वह न केवल कांग्रेस के बल्कि सारे देश के प्रवक्ता थे। भारतीय नेताओं में वे पहले नेता थे जिसने अपने देश के विकास के संदर्भ में दुनिया की घटनाओं के महत्व को पहचाना। इस विषय पर उन्होंने बार—बार अपने विचार प्रकट किये।

प्रणाम के लिए सन् 1936 में लखनऊ कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा :

हमारा संघर्ष स्वतंत्रता के एक व्यापक संघर्ष का एक अंश था। जिन शक्तियों ने हमें आगे बढ़ाया, उन्होंने दुनिया के लाखों लोगों को आगे बढ़ाया—उन्हें कार्यरत होने की गति दी। पूंजीवाद ने अपनी संकटपूर्ण स्थितियों में फासिस्टवाद का रूप लिया। साम्राज्यवादी वर्षों से अपने उपनिवेशवादी देशों की जनता के साथ जैसा व्यवहार करते रहे थे वैसा ही व्यवहार फासिस्टवाद ने अपने ही देश की जनता के साथ

किया। इस प्रकार फासिस्टवाद और साम्राज्यवाद पतनोन्मुख पूंजीवदा के ही दो चेहरे थे। पश्चिम में समाजवाद ने, अपने पूर्व में उभरती हुई राष्ट्रवादिता ने साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद के इस गठजोड़ का विरोध किया।

नेहरू ने बल देकर कहा कि साम्राज्यवादी शक्तियों के किसी युद्ध में भारत हिस्सा नहीं लेगा। वह दुनिया की प्रगतिशील शक्तियों को स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले को राजनैतिक और सामाजिक दासता को तोड़न से मुक्त मन से समर्थन देगा। ''हम महसूस करते हैं कि सम्राज्यवाद और फासिस्टी प्रतिक्रिया के विरोध में हम सब का संघर्ष एक ही है।''

सांप्रदायिकता में वृद्धि

सन् 1935 के विधेयक से सीमित जनतंत्र के जो अधिकार मिले उनकी वजह से एक बार फिर सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता की चिंगारियां भड़की। इन दोनों को फूट डालो राज करो की सरकारी नीति ने, सारे देश के जमीदारों और भू—स्वामियों की अर्द्धसामंती शक्तियों ने और उभरते हुए युद्धोन्मुख धर्मोन्माद के एक खास तरह के स्वरूप ने पाला। मुसलमानों के लिए आरक्षित 58 स्थानों पर कांग्रेस ने चुनाव लड़ा लेकिन केवल 26 पर जीत सकी। इनमें से भी 15 जगहों पर उसकी जीत पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में अब्दुल गफ्फार खां और उनके खुदाई खिदमतगारों के प्रभाव के कारण हुई। मुस्लिम लीग के मुसलमानों के लिए आरक्षित जगहों पर भी अधिक सफलता नहीं मिली। कांग्रेस ने यह महसूस किया कि सारे देश के मसले की पैरवी करने की सोच—समझ कर स्वीकृत एक निष्ठापूर्ण चाहत के बावजूद मुस्लिम जनता को अपने पक्ष में करना अभी भी शेष था। अतः दल ने अपनी जीत के साथ स्थिति को मजबूत बनाने और जनसंपर्क कार्यक्रम की आवश्यकता पर गंभीरतापूर्वक विचार करने का कार्य शुरू किया था।

मुस्लिम लीग ने कांग्रेस पर इस आरोप के साथ आक्रमण करना शुरू किया कि वह मुस्लिम अल्पसंख्यकों को उनके स्वतंत्र अस्तित्व और एकता से वंचित कर रही है। मुस्लिम लीग ने इस सिद्धांत की पुष्टि करना शुरू कर दिया कि हिंदू और मुसलमान वास्तव में दो राष्ट्र हैं।

हिंदुओं में भी जातीय आधार पर इस बने संगठनों ने ऊपरी तौर पर जनतांत्रिक दिखने वाले झंडों के नीचे अपने अस्तित्व को प्रभावशाली बना लिया। इनमें मुख्य थीं, बंबई में डॉ॰ अंबेदकर की राष्ट्रीय मजदूर संघ द्वारा समर्थित दलित वर्ग के मज़दूरों की 'स्वतंत्र मज़दूर पार्टी' और मद्रास की पुनर्जीवित की हुई 'जस्टिस पार्टी' जिसने कांग्रेस को ब्राह्मणों के आधिपत्य वाला दल कहकर उसका विरोध किया था। दूसरे क्षेत्रों में भी इसी तरह के संगठन उभरें। हिंदू महासभा पहले से ही अस्तित्व में थी। सन् 1935 के आरम्भ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का उदय हुआ। बाद के वर्षों में हिंदू महासभा ने हिन्दू—मुस्लिम संबंधों में और कड़वाहट भर दी। उसने मुसलमानों के दो राष्ट्रों के

सांप्रदायिकतावादी सिद्धांत के जवाब में उतने ही अवैज्ञानिक ढंग से इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि भारतीय राष्ट्र हिन्दुओं से बना है और दूसरे धर्मों के अनुयायी विदेशी हैं। इन दोनों सांप्रदायिक सिद्धांतों का परिणाम भारतीय जनता का बँटवारा और विदेशी सत्ता के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष को दुर्बल करना था। इतना ही नहीं, इन दोनों ही संगठनों ने अपने अनुयायियों को कांग्रेस से लड़ने की सीख दी। विदेशी साम्राज्यवादी के प्रति उनका रुख समर्पण और सहयोग का था। जब कभी भी ब्रितानी सरकार ने कांग्रेस या दूसरे राष्ट्रवादी संगठनों पर आक्रमण किया, इन दोनों सांप्रदायिक दलों ने उससे सहयोग किया।

सन् 1939 के बाद सांप्रदायिक तनाव बढ़े । इसका कारण कांग्रेस की हठधर्मिता नहीं वरन् ब्रितानी साम्राज्यवाद की नीति और भारतीय सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता के बीच पैदा हुई प्रतिक्रिया थी। ऊपर से देखने पर लगता था कि ब्रितानी नीति प्रतिनिधि सरकार की स्थापना के लिए अधिक अधिकार दे रही है लेकिन वास्तविकता यह है कि उसने शहर के संपत्तिवानों, धनी किसानों और उत्तराधिकार पर आधारित गैर जनतांत्रिक सामंतवाद में अब भी विश्वास करने वाले एक वर्ग का अधिकार पाने की आकांक्षा को बढ़ावा देने की कोशिश की। इन वर्गों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के उन क्षेत्रीय और सांप्रदायिक दलों से सहायता मांगी जो फूट डालो और राज करो की ताल पर नाच रहे थे।

जिन प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने उनमें सरकार द्वारा मज़दूरों के विवादों के समझौते, हरिजनों की हालत में सुधार, प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार और औद्योगिक नगरों के पास की दुकानों पर उपलब्ध शराब की समस्या हल करने की दिशा में अनेक कदम उठाये गये। मद्रास में कांग्रेस ने मद्यनिषेध की शुरुआत की। इसी के कारण बाद के वर्षों में मद्यनिषेध को कांग्रेस ने अपने कार्यक्रम का एक मुख्य मुद्दा बनाया। मद्रास सरकार ने मज़दूर विवाद के संदर्भ में एक त्रिपक्षीय प्रणाली की शुरुआत करते हुए मज़दूर संघों और मालिकों को अपने मतभेद समाप्त करने के लिए एक समझौते की मशीनरी व्यवस्था की। यह प्रणाली स्वतंत्रता मिलने के बाद के वर्षों में भी मज़दूर संबंधों के सुधार में बहुत कारगर साबित हुई। इस प्रणाली स्वतंत्रता में सामूहिक ढंग से सौदेबाजी करने के तरीके का इस्तेमाल होता है, जिसमें मज़दूर विवादों को खत्म करने की उदार कोशिश की जाती है। उसने मज़दूर संघों की राजनीतिक शक्ति बढ़ायी लेकिन उसी के साथ साथ इसने यह अपेक्षा भी की जाने लगी कि वे औद्योगिक सद्भाव बनाये रखने के आग्रह पर बल देंगे। वामपंथी मज़दूर संघों ने इसकी यह कहकर आलोचना की कि इसके कारण पूंजीपतियों और मज़दूरों के बीच एक ऐसा वर्ग सहयोग पैदा होगा जिसमें पूंजीवादी व्यवस्था निरंतर बनी रहेगी। आमतौर पर सन् 1937—39 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों और नरमपंथी राष्ट्रवादी नेताओं ने गांधीवादी नीतियों पर अमल करने की कोशिश की। स्वतंत्रता मिलने के बाद कुछ वर्षों में यही तत्व भारत सरकार की अधिकारिक नीति का एक अंग बन गया।

पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, पंजाब, सिंध, बंगाल और आसाम ऐसे प्रांत थे जिन्हें मिलाकर पाकिस्तान बनाने की मांग सन् 1935 में की गयी थी। लेकिन चुनावों में इन क्षेत्रों में मुस्लिम लीग को दयनीय सफलता मिली। उसकी विजय उत्तर प्रदेश जैसे प्रांतों में शानदार रही जहां मुसलमान अल्पमत में थे। अगर कांग्रेस ने सन् 1937 के चुनाव परिणामों की सही ढंग से छानबीन की होती तो उसने यह समझ लिया होता कि यदि बहुत से मुसलमानों ने उसके पक्ष में मत नहीं दिया तो यह स्थानीय धार्मिक अल्पमत के इस मत की ही अभिव्यक्ति है कि धार्मिक बहुसंख्यक अर्थात् हिंदू प्रांतीय सरकारों में अपनी बहुसंख्यक स्थिति का प्रयोग उन्हें नेस्तनाबूद करने में कर सकते हैं। कांग्रेस यह महसूस नहीं कर सकी कि इस तरह का भय किसी भी देश में अल्पसंख्यकों को स्वाभाविक ढंग से होता है। उस भय को कांग्रेस दल के भीतर और बाहर चलने वाले सांप्रदायिक चिंतन ने बढ़ाया। बहुत से कांग्रेसी नेताओं ने महसूस किया कि दल के भीतर सांप्रदायिकता के विरुद्ध दृढ़ संघर्ष करके, साम्राज्यवाद विरोधी और स्वतंत्र—मुसलमानों के प्रति मित्रता और समझदारी का रुख अपना करके उन्हें शिक्षित करके जीता जा सकता था। इसके लिए किसान वर्ग को सांमती तत्वों के विरुद्ध संगठित करना चाहिए था। उस परिस्थिति में यही करना एक जवाब था।

मार्च, 1937 में नेहरू ने मुसलमानों से व्यापक संपर्क करने और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के बारे में उन्हें बताने के लिए कांग्रेस की एक शाखा गठित करने की घोषणा की। इसकी वजह से उत्तरी भारत के मुसलमानों के मजलिसे—अहरार और जमीयते—उल्लमाए—हिंद जैसे धार्मिक गुटों को कांग्रेस के साथ करने में मदद मिली लेकिन व्यापक जनसंपर्क का कार्यक्रम पूरी तरह सफल नहीं हुआ क्योंकि कांग्रेसी नेता शोषित वर्ग के सभी लोगों को प्रेरित और संचालित करने में सफल नहीं थे।

लेकिन संपर्क के कार्यक्रम ने पश्चिमी उज़र प्रदेश के जमींदार लियाकत अली खां जैसे लीगियों के भय को बढ़ा दिया। वह अब जिन्ना के कट्टर हिंदू—विरोधी समर्थक हो गये। उन्हें भय था कि कांग्रेस के भूमि संबंधी परिवर्तनकारी कार्यक्रमों के तेज विकास से उसकी अर्द्धसामंती स्थिति खत्म होगी और मुसलमानों में पैदा होने वाली साम्राज्य विरोधी भावना के कारण सांप्रदायिक नेताओं को मिलने वाला सरकारी संरक्षण खत्म हो जायेगा।

लेकिन सांप्रदायिक नेता खुलकर यह नहीं कह सके कि उनके कांग्रेस का विरोध करने के कारण ये ही हैं। बल्कि इसके बदले उन्होंने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की असफलता को बढ़ा—चढ़ाकर कारण के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने कांग्रेस पर यह आरोप लगाया कि उसने बंगाल में जमींदार समर्थन दक्षिणपंथी नीति अपनाई। उत्तर प्रदेश में उन्होंने कांग्रेस की असफलता का नाजायज इस्तेमाल अपनी जनसंपर्क की नीति को विकसित करने में किया। साथ ही कांग्रेस पर आरोप लगाया कि उसने उच्चवर्गीय मुसलमानों को कमज़ोर बनाया। जिन्ना ने लीग के सन् 1937 के लखनऊ

सम्मेलन में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा कि कांग्रेस मंत्रिमंडल मुसलमानों के प्रति अत्याचारी और दमनकारी रहा है।

मुस्लिम लीग ने अपने राजनीतिक आग्रहों को प्रकट करने के लिए एक सुनियोजित आंदोलन आरंभ किया। सन् 1938 के अंत तक उसकी 170 नयी शाखाएं स्थापित हो चुकी थीं। 90 उत्तर प्रदेश में और 40 पंजाब में। अकेले उत्तर प्रदेश में 1 लाख सदस्य बनाये गये। सन् 1940 में की गयी पाकिस्तान की मांग के संदर्भ में बंगलादेश के एक इतिहासकार प्रोफेसर ए. एफ. सलाहुद्दीन अहमद ने मुस्लिम लीग की राजनीति के इस पक्ष का सही मूल्यांकन किया है। अप्रैल, 1972 में कलकत्ता में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक संगोष्ठी में प्रस्तुत अपने निबंध में उन्होंने कहा :

जिस आंदोलन की परिणति पाकिस्तान के निर्माण में हुई, वह आंदोलन धार्मिक नहीं था...... लगता है कि हिन्दुओं के राजनीतिक प्रभुत्व का भय आंदोलन को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण रहा, क्योंकि उसने मुस्लिम संप्रदाय के राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला होता। हालांकि परंपरागत इस्लाम में राजनीति और धर्म अविभाज्य है लेकिन यह स्थिति समकालीन मुस्लिम समाज के लिए सही नहीं रह गयी है। आंदोलन के बहुत कम नेताओं में परंपरागत इस्लाम के लिए कोई गहरा लगाव था। निश्चित रूप से इसी वजह से कट्टर मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाले—मैहसुल इसरार और मैतुलहिंद जैसे संगठनों ने इसी आधार पर लीग का समर्थन नहीं किया कि उसका नेतृत्व इस्लामी नहीं है। इन कट्टर मुसलमान के मध्यम वर्ग और उसके जरिये मुस्लिम जनता के समर्थन का लाभ मिला। (यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी मुस्लिम धर्मशास्त्री लीग के विरोधी नहीं थे।) उनके लिए पाकिस्तान ने बिना किसी प्रतिस्पर्द्धा के भय के बहुमुखी विकास का अवसर दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध

1939 में युद्ध छिड़ जाने पर भारतीय नेता एक कठिन स्थिति में पड़ गये। वे फासिस्टवाद दर्शन के बिल्कुल विरुद्ध थे, जैसा कि जाहिर था वह एक तरह का एकदलीय शासनतंत्र था जिसमें रंगभेद संबंधी दुराग्रह भी शामिल था। यहां तक कि सन् 1939 के पहले वर्षों में आक्रमण के विस्तारवादी कार्यक्रम के साथ जब फासिस्टवाद एक राजनैतिक दर्शन के रूप में उभर रहा था तभी जवाहरलाल नेहरू जैसे अनेक नेता यूरोप में उसको विकसित होते देखकर बहुत चिंतित हुए थे। कांग्रेस ने बहुत ही स्पष्ट ढंग से उसकी निंदा करते हुए स्पेन, इथियोपिया और चेकोस्लोवाकिया की पीड़ित जनता को खुला समर्थन देने की घोषणा की थी। जापान ने भी फासिस्टवाद की प्रवृत्ति के विकास पर

उनका दृष्टिकोण वैसा ही रहा और जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया तो उन्होंने तर्कसम्मत ढंग से चीन का समर्थन करते हुए जापान को आक्रामक कहा लेकिन वे साम्राज्यवाद के भी उतने ही प्रबल विरोधी थे। अत: युद्ध को लेकर उनका दृष्टिकोण इस बात पर निर्भर करने वाला था कि उसके लक्ष्य और उद्देश्य क्या हैं ? यदि वह युद्ध एशिया और अफ्रीका के देशों में अपने उपनिवेश या अपने औपनिवेशिक प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए परेशान पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियों या फासिस्टवादी सज़ा का प्रतिनिधित्व करने वाले उन नव साम्राज्यवादियों के बीच हो रहा है उपनिवेशवादी लूट में अपना हिस्सा चाह रहे हैं, तब भारत की उसमें कोई दिलचस्पी नहीं होगी। लेकिन यदि मित्र राष्ट्र अपना रवैया बदल कर दुनिया में जनतंत्र कायम करने के उद्देश्य से सचमुच ईमानदार के साथ फासिस्टवाद से लड़ रहे हैं, तो भारत उनको अपनी शक्ति का हर संभव समर्थन देगा। लेकिन मित्र राष्ट्रों को निश्चित प्रमाणओं द्वारा यह सिद्ध करना पड़ेगा कि उन्होंने जो दावे किये थे उन्हीं पर अमल करेंगे। खासतौर पर ब्रिटेन को तत्काल भारत को साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक प्रभुत्व छोड़ कर भारतीयों को स्वयं अपनी सरकार चलाने के लिए उचित मात्रा में अधिकार देना चाहिए।

लेकिन भारतीय जनता और उसके नेताओं की इन भावनाओं को महत्वहीन मानकर उन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। 3 सितम्बर, 1939 को युद्ध की घोषणा कर दी गयी। इससे भारत स्वत: युद्ध में शामिल होने के लिए प्रतिबद्ध हो गया। सन् 1935 के भारतीय विधेयक के संघीय भाग पर अभी भी अमल नहीं किया गया था, अत: युद्ध संवैधानिक दृष्टि से वायसराय की यह कार्रवाई कानूनी भी थी और मान्य भी। लेकिन इससे भारतीय जनता की भावनाओं के ब्रिटेन के अनुकूल हो जाने की संभावना लगभग नहीं थी। देश की एक केंद्रीय विधान परिषद् थी। प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारें थीं। देश में सुसंगठित और पूरी तरह मान्यता प्राप्त राजनैतिक दल थे। भारतीय जनता के बहुत से नेता थे जिन्होंने ब्रितानी सरकार से अनेकों बार पारस्परिक सहमति के आधार पर समस्याओं का हल ढूँढने के लिये विचार विमर्श किया था लेकिन इन में से किसी से राय नहीं ली। भारतीय जनता के लिए यह स्थिति ज्यादा स्तब्ध कर देने वाली इसीलिए भी थी क्योंकि युद्ध संबंधी भारतीय नेताओं के रुख का संकेत सरकार को पहले ही मिल चुका था। सन् 1939 की गर्मियों में कांग्रेस केंद्रीय विधान परिषद् के अधिवेशन से यह विरोध करते हुए गैरहाजिर हो गयी थी कि भारतीय सैनिक एहतियाती तौर पर मलाया और सुदूर पूर्व के देशों को भेजे जा रहे हैं।

लेकिन संभवतया नेताओं की अत्यंत तीखी फासिस्ट विरोधी भावना के कारण युद्ध की घोषणा पर कांग्रेस की तत्कालीन प्रतिक्रिया समन्वयात्मक थी। 14 सितंबर, 1939 को कांग्रेस ने एक वक्तव्य जारी किया जिसमें दल के दृष्टिकोण की स्पष्ट व्याख्या थी :

अगर युद्ध का उद्देश्य यथार्थवाद, साम्राज्यवादी आधिपत्य, उपनिवेश, निहित स्वार्थ और विशेषाधिकारों की रक्षा है, तब भारत की उसमें कोई दिलचस्पी नहीं हो

सकती है लेकिन यदि मसला जनतंत्र का या जनतंत्र पर आधारित विश्व-व्यवस्था का है तब उसमें भारत की गहरी दिलचस्पी है। एक स्वतंत्र और जनतांत्रिक भारत स्वतंत्र देशों के साथ आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक सुरक्षा और आर्थिक सहयोग देने के लिए खुशी खुशी कंधे से कंधा मिलायेगा, लेकिन सहयोग निश्चय ही बराबर वालों में और आपस की रजामंदी से होना चाहिए, अतः कार्यकारिणी ब्रितानी सरकार से आग्रह करती है कि वह स्पष्ट रूप से घोषित करे कि जनतंत्र, साम्राज्यवाद और परिकल्पित नयी व्यवस्था के संदर्भ में युद्ध के उसके उद्देश्य क्या हैं ? खास तौर पर यह कि उन उद्देश्यों को भारत पर किस तरह लागू करना है ? उन्हें इस वक्त किस तरह से अमल में लाया जाना है ? किसी भी घोषणा की सही जांच उसके वर्तमान प्रयोग में है।

भारतीय दृष्टिकोण से वायसराय का उत्तर अत्यंत असंतोषजनक था। उत्तर देने में एक महीने टालमटोल करने के बाद वायसराय ने 17 अक्तूबर, 1939 को अपनी असमर्थता पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि युद्ध के उद्देश्यों के बारे में इससे अधिक कुछ नहीं बता सकते हैं जितना प्रधानमंत्री ने बताया है। जहां तक तत्कालिक वर्तमान का प्रश्न था, वायसराय अपनी कार्यकारी समिति में कुछ और भारतीयों को शामिल करने को तैयार थे। युद्ध के दौर में भारतीयों को पर्याप्त अधिकार देना अव्यावहारिक माना गया था। एक गाजर (ढांढ़स बंधाने के लिए) सुरक्षित दूरी पर इस उम्मीद में लटका दिया गया था कि निर्दयतापूर्वक निराशा का शिकार बना दिये गये भारतीय राष्ट्र को उसे देखकर कुछ सांत्वना मिलेगी। युद्ध के बाद ब्रिटेन यह देखने के लिए कि सन् 1935 के भातीय विधेयक में कौन से संशोधन आवश्यक है (ताकि भारत महान् उपनिवेशों के बीच अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके) विभिन्न वर्गों और गुटों से राय-मशविरा करने को तैयार हो गया।

उसमें तत्काल या दूर भविष्य तक में सत्ता को छोड़ देने की ब्रिटेन की इच्छा का कोई संकेत नहीं था। अभी भी भारत को साम्राज्यवाद के अंतर्गत औपनिवेशिक दर्जा ही प्राप्त करना था। पूर्ण और समग्र स्वतंत्रता नहीं। वक्तव्य कांग्रेस के लिए एकदम स्वीकार योग्य नहीं था, अतः कार्यकारिणी ने वायसराय के इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया और कांग्रेसी मंत्रिमंडलों से कहा कि वे अक्तूबर के अंत तक त्यागपत्र दे दें।

लेकिन दरवाजा जरा-सा खुला रखा गया था। वक्तव्य में यह संकेत था कि यदि ब्रिटेन के दृष्टिकोण और नीति में परिवर्तन होता है तब सहयोग की गुंजाइश हो सकती है। वक्तव्य में कहा गया था कि "इन परिस्थितियों में कार्यकारिणी संभवतया ब्रिटेन को कोई सहयोग दे ही नहीं सकती क्योंकि उसका मतलब साम्राज्यवादी नीति का अनुमोदन करना होगा।....."

इसका मतलब 'सशर्त सहयोग' का प्रस्ताव था, बशर्तें कि भारत के प्रति ब्रितानी नीति में परिवर्तन हो।

यहां तक कि एक साल बाद अक्तूबर, 1940 में जब गांधीजी ने नये सिरे से सत्याग्रह आंदोलन शुरू करने की बात सोची तो फैसला किया गया कि उसे कुछ चुने हुए व्यक्तियों तक ही सीमित रखा जाये। इसका कारण यह था कि सरकार के उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण के बावजूद गांधी जी या कोई भी कांग्रेसी नहीं चाहता था कि जन आंदोलन के कारण युद्ध की तैयारी में भयंकर अव्यवस्था पैदा हो। सत्याग्रह का वास्तविक उद्देश्य ब्रितानी सरकार के इस दावे को गलत साबित करना था कि भारत युद्ध की तैयारी में पूरी तरह से मदद दे रहा है। वायसराय को लिखे एक पत्र में गांधी जी ने निजी तौर पर सत्याग्रह चलाने के उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया था :

कांग्रेस नात्सीवाद की जीत की उतनी ही विरोधी है जितना कोई ब्रितानी नागरिक हो सकता है। लेकिन उसके उद्देश्यों को उस सीमा तक नहीं ले लाया जा सकता जहां से वे युद्ध में हिस्सा लेने लगे। और क्योंकि आप तथा भारतीय मामलों के मंत्री ने घोषित कर दिया है कि भारत अपनी इच्छा से युद्ध की तैयारी में मदद दे रहा है, यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी हो जाता है कि इसमें भारतीय जनता के बहुत बड़े बहुमत की दिलचस्पी नहीं है। वे नात्सीवाद और भारत पर हुकूमत करने वाले दुहरे निरंकुश शासन तंत्र में भेद नहीं करते।

क्रिप्स मिशन

नागरिक अवज्ञा का यह व्यक्तिगत आंदोलन अक्तूबर, 1940 में शुरू हुआ। सत्याग्रह शुरू करने वाले पहले नेता के रूप में गांधीजी ने विनोबा भावे का चुनाव किया। सन् 1941 तक यूरोप में युद्ध अपने शिखर पर पहुंच गया था। ब्रिटेन के युद्ध में पराजित होने के बावजूद, पोलैंड, बैल्जियम, हालैंड, नार्वे, फ्रांस और पूर्वी यूरोप के अधिकतर देशों को हराकर जर्मनी ने जून, 1941 में रूस पर आक्रमण कर लिया। पर्ल हारबर पर अचानक आक्रमण करके दिसंबर में जापान युद्ध में शामिल हो गया। इस प्रकार सन् 1941 के अंत तक युद्ध ने वह शक्ल ले ली। जिसमें सारी दुनिया जलती हुई दिखाई दी। अमरीका और रूस उसमें पूरी तरह शामिल होकर मित्र राष्ट्रों के साथ लड़ रहे थे। लेकिन इससे ऐसा नहीं लगा कि विजय शीघ्र हो जायेगी। दूसरी तरह एशियाई स्थल में शुरू में ही सफलताएं जापान को मिलीं। उसने फिलीपीन्ज हिंदचीन इंडोनेशिया, मलाया और बर्मा पर शीघ्रता से विजय प्राप्त कर ली। मार्च 1942 में जापानी फौजों ने रंगून पर कज़्ज़ा कर लिया। भारत के सीमांतों पर सीधा खतरा पैदा हो गया।

अब ब्रिटेन हताशा में भारत का पूरा और सक्रिय सहयोग पाने के लिए परेशान था ताकि न केवल जापान को आगे बढ़ने से रोका जा सके वरन् युद्ध की समग्र तैयारी में मदद मिले। ब्रिटेन ने

महसूस किया कि भारत को फिलहाल भविष्य में स्वशासी सरकार बनाने के पूरे अधिकार देने का निश्चित वायदा करना पड़ेगा। तदनुसार ब्रितानी सरकार ने युद्धकालीन मंत्रिमंडल के एक सदस्य सर सटैफोर्ड क्रिप्स की घोषणा के एक मसविदे के साथ भारत भेजा। वह एक तेज-तर्रार वकील और प्रतिबद्ध समाजवादी थे। भारतीय प्रश्नों समस्याओं का उन्होंने गंभीरतापूर्वक लंबे अरसे तक अध्ययन किया था। उनके विषय में एक आम धारणा थी कि भारतीय आकांक्षाओं के प्रति उनके मन में सहानुभूति का भाव है। नेहरू जी से उनका व्यक्तिगत परिचय था। लेकिन घोषणा का जो मसविदा वे लाये थे उसमें सिफारिश के नाम पर कुछ खास नहीं था। उसमें यह प्रस्ताव था कि युद्ध की समाप्ति के बाद भारत को औपनिवेशिक दर्जा दे दिया जायेगा। मसविदे में भारत को अलग हो जाने का भी अधिकार दिया गया था। प्रस्ताव पर अमल करने के लिए, युद्ध स्थिति के खत्म होते ही एक संविधान सभा का गठन किया जायेगा। सभा में ब्रितानी भारत और देशी रियासतों के सदस्य होने थे। ब्रितानी भारत के सदस्यों का चुनाव प्रांतीय विधान परिषदों के निचले सदन द्वारा किया जायेगा। रियासतों के सदस्यों का मनोनयन सरकार करेगी। सभा सरकार द्वारा निर्मित संविधान को स्वीकार करने और भारत से एक संधि-व्यवस्था पर बातचीत करने को तैयार थी। लेकिन उसमें एक व्यवस्था यह थी कि यदि कोई प्रांत भारतीय संघ से अलग रहना चाहे तो रह सकता है और ब्रिटेन से सीधी बातचीत कर सकता है। युद्ध के दौर में किसी तरह का संवैधानिक परिवर्तन करने का प्रस्ताव नहीं रखा गया लेकिन यह उम्मीद जाहिर की गयी थी कि भारत के नेता और राजनैतिक दल एक 'राष्ट्रीय सरकार' के गठन और संचालन में सहयोग करने के लिए तैयार होंगे। सुरक्षा मंत्री भारतीय होगा लेकिन उसके वास्तविक सैनिक पक्षों की देखभाल ब्रितानी प्रधान सेनापति करते रहेंगे।

इस घोषणा को सभी राजनीतिक दलों ने अस्वीकृत कर दिया। हालांकि उनके कारण भिन्न और प्राय: एकदम अंतर्विरोधी थे। कांग्रेस से यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि वह प्रांतों के भारतीय संघ में न मिलने के सिद्धांत को स्वीकार करे। अत: अपेक्षा से आगे बढ़कर उसने अपने प्रस्ताव में कहा, ''कार्यकारिणी देश की किसी क्षेत्रीय इकाई को उसकी घोषित और मान्य इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में बने रहने के लिए दबाव डालने की बात सोच नहीं सकती।'' कांग्रेस ने संविधान सभा में मनोनीत सदस्यों का लाया जाना भी स्वीकार नहीं किया। सबसे बड़ी बात यह थी कि उसने भविष्य के वायदों पर विश्वास नहीं किया। उसने उसी वक्त राजनैतिक सत्ता में एक निश्चित हिस्सा चाहा। विदेशी भूमि पर लड़ने के मूल्य के रूप में उसने देश में तत्काल स्वशासी सरकार स्थापित करनी चाही। दूसरी तरफ मुस्लिम लीग ने प्रांतों के भारतीय संघ से अलग बने रहने की संभावना का स्वागत किया। कारण यह था कि उसमें परोक्ष रूप में यह स्वीकार किया गया था कि यदि मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्र चाहें तो भारतीय संघ से अलग अपना एक स्वतंत्र संघ बना सकते हैं। लेकिन लीग ने प्रस्ताव की आलोचना इस वजह से की कि संविधान मसविदा तैयार करने के

लिए जो विधि अपनाई जाने वाली थी वह अस्पष्ट थी और प्रस्ताव भी अपने आप में इतना बेलोच था कि उसमें किसी तरह के संशोधन की गुंजाइश नहीं थी। हिंदू महासभा को देश के विभाजित हो जाने का भय था, अतः उसने प्रस्ताव का विरोध किया। सिख सांप्रदायिकतावादियों को भय था कि मुस्लिम बहुमत वाला पंजाब भारतीय सिख संघ से बाहर रहने का निर्णय करेगा। अंबेदकर और सी एम राजा यह सोचकर भयभीत थे कि अछूतों को सत्रण हिंदुओं की मर्जी पर छोड़ दिया जायेगा क्योंकि विशेष ढंग से यह नहीं बताया गया था कि प्रशासन पर भारतीयों का कितना नियंत्रण होगा। अतः सभी को प्रस्ताव अंतरिम समय के लिए अस्पष्ट और असंतोषजनक लगा। स्वायत्त सरकार के प्रस्ताव द्वारा कुछ विशेष न मिलने की स्पष्ट जानकारी बाद में तब हुई, जब अकस्मात क्रिप्स ने यह स्पष्टीकरण दिया कि ब्रितानी सरकार का इरादा केवल वायसराय की कार्यकारी समिति का विस्तार करना था। उन्होंने बातचीत के प्रारंभिक दौर में राष्ट्रीय सरकार और मंत्रिमंडल का जिक्र किया था। अंततः प्रस्वाव अस्वीकृत हो गये और क्रिप्स मिशन गतिरोध को समाप्त करने में असफल रहा।

सन् 1942 का विद्रोह

क्रिप्स मिशन की असफलता ने देश को विषाद और आक्रोश का शिकार बना दिया। लगभग सभी क्षेत्रों में निराशा थी। अपवाद केवल मुस्लिम लीग और वे व्यक्ति थे जिन्होंने रोजगार के बढ़े हुए अवसरों का लाभ उठाया और युद्ध में ठेकेदारी करके खूब धन कमाया। लेकिन प्रश्न यह था कि अगला कदम क्या हो ? निष्क्रियता असहाय थी।

गांधी जी ने क्रिप्स के प्रस्ताव में बहुत दिलचस्पी नहीं ली थी, लेकिन उसकी असफलता से उन्हें भी बड़ी निराशा हुई। दक्षिण-पूर्व एशिया की बदलती हुई स्थिति से भी वे परेशान थे। ब्रिटेन, मलाया, सिंगापुर और बर्मा से पीछे हट गया था। उसके बाद वहां पर कोई प्रतिरोध नहीं रह गया और जापान वहां के लिए सब कुछ हो गया। इसी से मिलते-जुलते अभिशाप ने फिलीपीन्ज और इंडोनेशिया को ग्रस लिया था। तगड़ी सुरक्षा के नाम पर 'स्काचर्ड अर्थनीति' के कारण देश पूरी तरह बर्बाद हो गये थे। (स्कार्चड् अर्थनीति सेना की वह नीति होती है जिसके अनुसार वह पीछे हटते हुए सारी चीजों को स्वयं इसलिए नष्ट करती जाती है ताकि बढ़ती हुई शत्रु की सेना उसका लाभ न उठा सके) यह सोचकर यदि सीमांत पर आक्रमण हुआ हो बंगाल में हजारों की संख्या में नदियों में पड़ी हुई छोटी नावें दुश्मन के हाथ लग जायेंगी, ब्रितानी सरकार ने उन्हें नष्ट कर दिया था। उसके बाद जो विपत्ति पैदा हुई वह भंयकर थी। यह प्रमाण भारत के सामने था और वह सोच सकता था कि वैसी स्थिति में भविष्य 'कैसा होगा'। न केवल बंगाल की अर्थव्यवस्था बुरी तरह लड़खड़ा गयी थी बल्कि खाद्यान्नों के बंटवारे में भी एक बड़ा संकट पैदा हो गया था। गांधीजी और कांग्रेस के नेता बेचैनी के

साथ चाहते थे कि जो कुछ मलाया और बर्मा में घटित हुआ उसकी भारत में पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए। जब जनता को सैनिक आक्रमण का सामना करना पड़ा था तो वह भय और आंतक का शिकार हो गयी। उन्होंने संकट का चुनौती के साथ सामना नहीं किया। भारत को ऐसी स्थिति से भी बचाना चाहिए था। गांधी जी इस नतीजे पर पहुंचे कि भारतीय जनता के मन से इस भय को दूर भगाने और आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तैयार करने का यही एक रास्ता हो सकता है कि उसके दिमाग में यह बैठा दिया जाये कि वह अपनी मालिक खुद है और देश की रक्षा करना उसका दायित्व है। वह इस विश्वास पर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकती कि सुरक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटेन की है। अत: उन्होंने ब्रितानी सरकार से भारत छोड़ देने और सत्ता को भारतीयों के हाथ सौंप देने की मांग के साथ एक आंदोलन शुरू करने का फैसला किया। उन्होंने इसकी व्याख्या की : ''मैं जानता हूँ कि ऐसे नाजुक वक्त पर इस अद्‌भुत विचार से बहुत से लोग स्तंभित हुए हैं। यदि मुझे अपने प्रति ईमानदार रहना था तो पागल करार दिये जाने का खतरा मोल लेकर भी मुझे सच्चाई की बात करनी थी। मैं इसे युद्ध और भारत को विपत्ति से मुक्त करने में अपनी ठोस देन मानता हूं।''

बहुत से नेताओं का ख्याल था कि वह अवसर ऐसी सख्त मांग के लिए उपयुक्त नहीं था। एक तरफ उन्हें हिंसा और अराजकता के परिणामों का और दूसरी तरफ जापान तथा दूसरे निर्दयी दुश्मनों द्वारा भारतीय जनता को निस्सहाय दासता में जकड़ देने का भय था। नेहरू अभी भी दूसरी तरह से सोच रहे थे। क्रिप्स मिशन की असफलता ने नेताओं को देश की सुरक्षा में पूरी तरह सहयोग करने का अवसर प्राप्त करने से वंचित कर दिया था। क्या देश को ऐसी व्यापक उथल-पुथल के हवाले कर देना था जिसका नतीजा फासिस्टवाद-विरोधी कदम उठाने वाले मित्र राष्ट्रों की पराजय हो ? नेहरू की विशेष चिंता यह थी कि भारत पर आधिपत्य जमाने वाले साम्राज्यवादी ब्रिटेन से युद्ध और जर्मनी-जापान से लड़ने वाले रूस और चीन का साथ छोड़ देने में से किसका चुनाव किया जाये ? तर्क और बहस-मुबाहिसे बहुत लंबे और तीखे थे। गांधी जी दृढ़ थे लेकिन समझाने-बुझाने पर भी अत्यधिक बल दे रहे थे। उन्होंने इस बात पर रजामंदी जाहिर की कि यदि राजनैतिक सत्ता फौरन भारत को सौंप दी जाती है तो ब्रितानी सेनाएं भारत में रह सकती हैं और ऐसे अड्‌डे भी दिये जा सकते हैं, जहां से वे अपना युद्ध-संचालन कर सकें। यदि यह भी स्वीकार नहीं किया गया तो वह कांग्रेस छोड़ देंगे और ''भारत की बालू से एक ऐसा आंदोलन पैदा करेंगे जो खुद कांग्रेस से भी बड़ा होगा।''

जुलाई के प्रारंभ में बर्मा में कांग्रेस की कार्य समिति की बैठक हुई और राष्ट्रीय मांग का मसविदा तैयार हुआ। समिति ने ब्रिटेन से मांग की कि वह फौरन सज़ा भारतीयों को सौंप कर 'भारत छोड़ दे'। अगर प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया तो ''कांग्रेस न चाहते हुए भी सन् 1920 से अर्जित अपनी सारी अहिंसक शक्ति का इस्तेमाल करके सीधी कारवाई का आंदोलन शुरु करेगी। 7 अगस्त

को इस नीति संबंधी फैसले का अनुमोदन करने के लिए बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक बुलाई गयी।''

इस बीच चीन की तीनों सेनाओं के प्रधान जनरल यांग काई शेक और अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ब्रिटेन को भारत में संबंध बना लेने और गतिरोध खत्म करने के लिए समझाने-बुझाने की कोशिश की। लेकिन चर्चिल किसी की भी सुनने को तैयार नहीं थे। उन्होंने खुलेआम घोषणा की कि उन्हें ब्रिटेन का प्रधानमंत्री इसलिए नहीं बनाया गया है कि वह ब्रितानी साम्राज्य का बंटाधार कर दें।

अखिल भारतीय कांग्रेस का अगस्त 1942 का बंबई का अधिवेशन ऐतिहासिक बन गया था। उसी में मशहूर भारत छोड़ो प्रस्ताव पास हुआ। जो भी हो, मांग तो थोथी और दुराग्रहपूर्ण नहीं थी। उसमें युद्ध की तैयारी में सहयोग दने का प्रस्ताव था। उसने सरकार को तत्काल कदम उठाने को चुनौती भी दी, भारत की स्वतंत्रता की घोषणा के साथ एक स्थायी सरकार गठित हो जायेगी और स्वतंत्र भारत संयुक्त राष्ट्र संघ का एक मित्र बनेगा। मुस्लिम लीग से वायदा किया गया कि ऐसा संविधान बनेगा जिसमें संघ में शामिल होने वाली इकाइयों को अधिक से अधिक स्वाय त्तता मिलेगी और बचे हुए अधिकार उसी के पास रहेंगे। प्रस्ताव का अंतिम अंश था : ''देश ने साम्राज्यवादी और एकतंत्रवादी सरकार के विरुद्ध अपनी इच्छा जाहिर कर दी है। अब उसे उस बिंदु से लौटाने का बिल्कुल औचित्य नहीं है। यह संघर्ष अनिवार्यता गांधी जी के नेतृत्व में होगा।''

प्रस्ताव पास होने के बाद गांधीजी ने उपस्थित प्रतिनिधियों को संबोधित किया। अपने भाषण के दौरान उन्होंने कहा, वास्तविक संघर्ष इसी क्षण नहीं हो रहा है। आपने महज मेरे हाथ में कुछ अधिकार दे दिये हैं। मेरा पहला काम वायसराय से मिलना और उनसे कांग्रेस की मांग स्वीकार करने के लिए पैरवी करना होगा। इसमें दो या तीन हफ्ते लग सकते हैं। आप इस बीच के समय में क्या करने जा रहे हैं ? चरखा है लेकिन कुछ और भी है जिसे आप को करना है। इसी क्षण से आप में हर स्त्री पुरुष को अपने को स्वतंत्र महूसूस करना चाहिए। इस तरह गोया आप साम्राज्यवाद के जुए के अंदर बिल्कुल नहीं हैं।

लेकिन सरकार ने गांधी जी के वायसराय से मिलने तक का इंतजार नहीं किया। सरकारी मशीनरी को बिल्कुल तैयार रखा गया। वह राक्षसी क्रोध में बिजली जैसी रफ्तार से सक्रिय हो गयी। 8 अगस्त की रात कांग्रेस की बैठक रात में देर से खत्म हुई थी। उसके कुछ ही घंटों के भीतर गांधीजी और कांग्रेस कार्य समिति के नेताओं को गिरफ्तार करके एक विशेष रेलगाड़ी द्वारा बंबई से बाहर भेज दिया गया। गांधी जी को पूना में आगा खां पैलेस में रोक लिया गया और शेष नेता अहमदनगर किले में नजरबंद कर दिये गये।

9 अगस्त की सुबह एक भारत छोड़ो प्रस्ताव और नेताओं की गिरफ्तारी की खबर जनता तक पहुंच गयी। वे एकदम अवाक् और स्तंभित हो गयी। पुलिस की प्रतिक्रिया तात्कालिक थी। वह स्वतः प्रेरित ढंग से अपने (कु) कर्त्तव्य के पालन में जुट गयी। जिंदगी में ठहराव आ गया और सारे कार्यकलाप रुक गये। हर शहर और कस्बे में हड़ताल हुई। हर जगह प्रदर्शन हुए। जुलूस निकले। हवा में नेताओं की रिहाई की मांग करने वाले राष्ट्रीय गीत और नारे गूंज उठे। उत्तेजित और क्रुद्ध होने के बावजूद कुल मिलाकर जनता शांतिपूर्ण थी। लेकिन तनाव था और भीड़ ने तितर-बितर हो जाने के पुलिस के आदेश की अवहेलना की, पुलिस ने गोली चलाई। सिर्फ दिल्ली में 11 और 12 अगस्त के दो दिनों के विभिन्न मौकों पर पुलिस ने निहत्थी भीड़ पर 47 बार गोलियां चलायीं। 76 आदमी मारे गये और 114 घायल हुए। सारे देश में एक ही दृश्य था- जनता का प्रदर्शन, पुलिस की हिंसा, गोलीचालन और गिरफ्तारी।

बहुत जल्द ही परिस्थिति नियंत्रण से बाहर हो गयी। अधिकांश नेता जेलों में थे, कुछ छिप गये थे। जनता की उत्तेजना अपने शिखर पर थी और कोई उसका नेतृत्व करने वाला नहीं था। अलग-अलग व्यक्तियों, गुटों ने अपनी समझ से परिस्थिति का आकलन किया और उसके अनुसार काम किया। पुलिस के निरंतर दमन और अध्यादेश राज ने जनता की भावना को और उभार दिया। कांग्रेस ने नागरिक अवज्ञा का आह्वान नहीं किया था। अतः अलग-अलग व्यक्तियों ने आक्रोश भरी चुनौती के रूप में जो कार्रवाई शुरू की वह बढ़कर एक आंदोलन में बदल गयी और फिर आंदोलन ने विद्रोह का रूप ले लिया।

विद्रोह में अगुवाई छात्रों, मज़दूरों और किसानों ने की। कारखानों और स्कूल-कालेजों में हड़तालें हुईं। ब्रितानी शासन का प्रतीक समझे जाने वाले पुलिस थानों, डाकखानों और रेलवे स्टेशनों पर आक्रमण किये गये। उनमें आग लगाई गयी। उन्हें ध्वस्त किया गया। बाद में तोड़फोड़ की भी कुछ कार्रवाइयां हुईं। टेलीफोन के तार काटने और रेल की पटरी उखाड़ने की कोशिश हुई। किसानों को निरंतर कर न चुकाने के लिए उद्बोधित किया जाता रहा। बहुत से क्षेत्रों में किसानों ने वैकल्पिक सरकारें बनाईं और वहां कई कई दिन या हफ्तों तक ब्रितानी सरकार की प्रशासनिक इकाइयों का अस्तित्व नहीं रहा। वलिया शहर पर स्थानीय नेताओं ने कब्जा कर लिया और उन्हें भगाने के लिए सेना की टुकड़ी बुलानी पड़ी। सुतहटा और कर्नाटक में किसानों ने छिप कर ब्रितानी शासन के प्रतिरोध में गुरिल्ला कार्रवाई शुरू कीं और यह क्रम सन् 1944 तक चलता रहा। व्यापक पैमाने पर क्रांतिकारी हिंसा हुई। विद्रोह केवल ब्रितानी भारत तक ही सीमित नहीं रहा। रियासतों में भी बहुत से लोग इससे प्रभावित हुए। सरकार ने अपना गुस्सा दिखाया और आतंक तथा जोरजुल्म की बागडोर सख्त कर दी गयी. लाठी-गोलीचालन और बड़ी संख्या में गिरफ्तारियों का सिलसिला इतना तेज और आम हो गया कि देश एक पुलिस राज में बदल गया। अनेकों अवसरों पर निहत्थी भीड़ पर हवाई जहाज से मशीनगन द्वारा गोलियां चलाई गईं। पुलिस का अत्याचार रोज की घटना हो गयी।

सामूहिक जुर्माने और मुकद्दमे की संक्षिप्त सुनवाई करके लोगों को सजा देना आम बात हो गयी। विद्रोह थोड़े समय तक चला लेकिन यह काफी तेज रहा। सरकार उसे दबा देने में सफल हुई लेकिन पुलिस और सेना की गोलियों से 10 हजार से अधिक लोगों को मार डालने के बाद देश में सन् 1857 के बाद इतना भयंकर और देशव्यापी दमन नहीं हुआ था।

सन् 1942 का विद्रोह सफल नहीं हुआ क्योंकि बिना नेतृत्व वाली असंगठित और निहत्थी जनता साम्राज्यवादी सरकार की बड़ी शक्ति से जीत नहीं सकती थी। लेकिन विद्रोह से दो उपलब्धियां हुईं। उसने साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत के आक्रोश और स्वतंत्र होने के संकल्प को प्रभावशाली और सुनिश्चित ढंग से व्यक्त किया। उसने जीवंत तरीके से गोरों को यह बता दिया कि देश में राष्ट्रीयता की भावना उस सीमा के पार पहुंच चुकी है जहां पर जनता अपनी स्वतंत्रता के अधिकार के लिए बड़ी से बड़ी तकलीफें उठाने और बलिदान करने को तैयार हैं। दूसरे यह कि सन् 1942 के विद्रोह के बाद ब्रितानी शासकों के दिमाग में यह बात अच्छी तरह आ गयी कि भारत में उनके साम्राज्यवादी शासन के सिर्फ गिने चुने दिन रह गये हैं।

सन् 1942 का आंदोलन एक अर्थ में भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की समाप्ति का परिचायक है। अगस्त 1942 के विद्रोह के बाद प्रश्न सिर्फ यह तय करने के समय का रह गया था कि सत्ता का हस्तांनातरण किस तरीके से हो और स्वतंत्रता के बाद सरकार का स्वरूप क्या हो ? इसमें कोई संदेह नहीं कि सन् 1942 के विद्रोह और 1947 में स्वतंत्रता मिलने के बीच के समय में साठ-गांठ बैठाने और सौदेबाजी करने के अनेकों प्रयास और राजनैतिक परिवर्तन हुए। लेकिन इस तथ्य में कोई संदेह नहीं रह गया था कि स्वतंत्रता संग्राम अपनी समाप्ति पर था और विजय मिलने ही वाली थी।

शिमला सम्मेलन

सन् 1945 मे ंवसंत के अंत तक यूरोप में युद्ध समाप्ति पर था। भारतवर्ष में लिनलिथगो की जगह पर वैवेल वायसराय बन गये थे। वैवेल एक पेशेवर सिपाही थे और लिनलिथगो के वायसराय काल में भारत के मुख्य सेनापति थे। उस वक्त सैनिक विशेषज्ञों का मत था कि युद्ध कुछ दिनों तक चल सकता है। अर्थात् कम से कम एक साल तक और एक सैनिक के रूप में वैवेल ने स्वयं इस मत से सहमति व्यक्त की। अगस्त 1945 में परमाणु अस्त्र भी इस्तेमाल में आये लेकिन जिस नाटकीय ढंग से एशिया में युद्ध का अंत हुआ उसके राज का पता नहीं चला। एशिया में युद्ध के चलते रहने का मतलब होता भारतीय सैनिक अड्डो और उसके साधनों का अधिक से अधिक इस्तेमाल और लाभ। देश में उस वक्त की राजनैतिक परिस्थिति ध्यान में रखते हुए वैवेल ने गतिरोध को तोड़ने और भारत की जनता तथा उसके नेताओं को जापान के विरुद्ध युद्ध में हिस्सा लेने के लिए तैयार करने का रास्ता ढूंढ निकालना आवश्यक समझा।

अप्रैल, 1945 में यूरोप में युद्ध खत्म हो गया। चर्चिल ने त्यागपत्र दे दिया। नये चुनाव होने वाले थे। 14 जून 1935 को भारतीय विधेयक के ढांचे के अंतर्गत कुछ और संवैधानिक सुधार लाने के प्रस्तावों की घोषणा की गयी। कांग्रेस कार्यसमिति के सभी सदस्यों को रिहा कर दिया गया। गांधी जी पर नजरबंदी का जो आदेश था, वह उसके पहले ही उठा लिया गया था। राजनैतिक नेताओं के प्रतिनिधियों की एक बैठक करने का फैसला हुआ और 25 जून को शिमला में शुरू होने वाली थी।

प्रस्ताव कुछ दूर तक समन्वय पैदा करने वाले थे लेकिन एक अर्थ में असंतोषजनक और भड़काने वाले थे। वायसराय की कार्यकारी समिति में उन्हें और प्रधान सेनापति को छोड़कर शेष सभी सदस्य भारतीय होने वाले थे। अधिकारिक और वायसराय के विशेषधिकार खत्म नहीं किये जाने वाले थे लेकिन यह आश्वासन दिया गया था कि उनका इस्तेमाल 'विवेकहीन, तरीके से नहीं किया जायेगा। इस सीमा तक वह कुछ प्रगतिशील था। उसके बाद आई विभाजक प्रवृत्तियां। प्रस्ताव के अनुसार समिति में मुसलमानों और स्वर्ण हिंदुओं का अनुपात बराबर होगा। इसका मतलब यह था कि मुस्लिम लीग की राजनैतिक समानता के बदले सांप्रदायिक समानता की मांग का पहली बार ब्रितानी नीति के सरकार घोषणा में अनुमोदन किया गया था। लेकिन प्रस्ताव के संवैधानिक समझौते पर पहुंचने या उसे आरोपित करने के प्रयत्न नहीं थे। उन पर शिमला सम्मेलन में विचार विमर्श किया जाना था। सम्मेलन की शुरुआत के साथ एक उम्मीद बंधी थी लेकिन शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि जिन्ना की हठधर्मिता और साम्राज्यवादियों की पिछले दरवाजे से की हुई कारवाई के कारण सफलता असंभव है। समझौता वार्ता जिन्ना के इस दुराग्रह के कारण टूट गयी कि कार्यकारी समिति के सारे मुसलमान सदस्यों का मनोनयन सिर्फ लीग करेगी। ब्रितानी सरकार ऐसे किसी समझौते पर हस्ताक्षर करने को तैयारी नहीं थी, जिसमें मुस्लिम लीग एक पक्ष न हो। फूट डालो और राज करो की नीति अपने शिखर पर थी।'

आजाद हिंद फौज

सन् 1942 के आंदोलन के कुचल-दबा दिये जाने के बाद से लेकर सन् 1945 में युद्ध के अंत तक देश में मुश्किल से कोई राजनैतिक गतिविधि नहीं रही। सारे लोकप्रिय नेता जेल में थे और परिस्थिति ऐसी नहीं थी, जिसमें नया नेतृत्व सामने आ सके। आमतौर पर असंतोष और खिन्नता की भावना थी हालांकि अप्रकट रूप से भीतर भीतर आग सुलग रही थी। युद्ध आगे खिंचा लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन में ठहराव आ गया था।

सुभाषचंद्र बोस रूस से भारत की स्वतंत्रता के संघर्ष में मदद लेने के उद्देश्य से मार्च 1941 में चुपचाप देश से चले गये थे। लेकिन जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और वह मित्र राष्ट्रों में

शामिल हो गया। सुभाष बाबू रूस से इस उद्देश्य से जर्मनी चले गये कि वहां पर मदद प्राप्त कर सकें। जर्मनी से थोड़े आश्वासन पाकर वे जापान गये ताकि उसकी मदद से भारत मुक्ति-युद्ध का संगठन कर सकें। ब्रितानियों ने भारतीय अफसरों और सैनिकों को छोड़ते हुए मलाया और बर्मा को खाली कर दिया था। इसी बीच जापान ने उन सैनिकों और अफसरों को मिलाकर आजाद हिंद फौज का संगठन करने की कोशिश की। जापानियों ने सिर्फ मलाया और 60 हजार अफसरों-सैनिकों को बंदी बनाया था। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में जो भारतीय नागरिक रहते थे, वे भी देश लौट आने में असमर्थ होकर भटक रहे थे। सुभाष चंद्र बोस ने इस सेना का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। इसने जापानियों के साथ मिलकर भारत की तरफ बढ़ना शुरू किया। आज़ाद हिंद फौज के अफसरों और सैनिकों में देशभक्ति की भावना थी और उन्होंने मुक्तिदाता के रूप में भारत में प्रवेश करना चाहा। सुभाषचंद्र बोस स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार के अध्यक्ष होने वाले थे।

जापान की पराजय के साथ आजाद हिंद फौज की योजना असफल हो गयी। टोक्यो जाते हुए हवाई जहाज की एक दुर्घटना में सुभाष चंद्र बोस की मृत्यु हो गयी। यह सही है कि बहुत से नेताओं ने जापान और उसके फासिस्टवादी मित्रों की सहायता से भारत को स्वतंत्र कराना पसंद नहीं किया, लेकिन युद्ध के अंतिम वर्षों में सुभाष चन्द्र बोस और आजाद हिंद फौज ने भारत में उन राष्ट्रवादियों की हताश भावना को ढांढस बंधाया जो निराशा और असहायता से त्रस्त थे। उन्होंने सेना के जवान और भारतीय जनता के हर वर्ग के सामने साहस और देशभक्ति की ऐसी मिसाल रखी जो प्रेरणा देने वाली भी थी और मर्यादा से जोड़ने वाली थी।

इसलिए जब सरकार ने आजाद हिंद फौज के कुछ अफसरों के विरुद्ध ब्रितानी शासन की वफादारी की शपथ तोड़ने और विश्वासघात करने के आरोप में मुकद्दमा चलाने की घोषणा की तो राष्ट्रवादी विरोध की लहर फैल गयी। सारे देश में विशाल प्रदर्शन हुए। अफसरों को रिहा कर देने की निरंतर मांग की गयी। न केवल कांग्रेस बल्कि सभी राजनैतिक दलों ने मुकद्दमे की सुनवाई का विरोध किया। आजाद हिंद फौज के अफसरों को रिहाई की जोरदार आवाज उठाई। कांग्रेस ने भूलाभाई देसाई, तेज बहादुर सप्रू, कैलाशनाथ काटजू और आसफ अली सरीखे प्रख्यात वकीलों को मिलाकर 'आजाद हिंद फौज बचाव समिति' का गठन किया। जिस समय दिल्ली के लाल किले के ऐतिहासिक कक्ष में ये राष्ट्रवादी नेता सैनिक अफसरों के बचाव में खड़े हुए सारे देश की नजरें उधर ही टिकी थीं। सभी 'क्या होगा' के अहसास से बंधे हुए थे। सैनिक अदालत ने अफसरों को दोषी करार देकर सजा दे दी। लेकिन सारा देश भावना के ऐसे गहरे आवेग में कि सरकार को उसके सामने हथियार डाल देने पड़े थे। सजा खत्म कर दी गयी और सैनिक अफसरों को रिहा कर दिया गया।

संघर्ष का अंत

युद्ध की समाप्ति के साथ यह स्पष्ट था कि भारत की स्वतंत्रता को ज्यादा टाला नहीं जा सकता। देश में और देश के बाहर बहुत से ऐसे परिवर्तन हुए जिनके कारण ब्रिटेन को इस स्थिति का कायल होना पड़ा। सोवियत संघ और अमरीका दोनों महाशक्तियों के रूप में उभरे थे और दोनों ही भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में थे। हालांकि ब्रिटेन युद्ध में विजयी हुआ था लेकिन उसकी अर्थव्यवस्था और सैनिक शक्ति बुरी तरह लड़खड़ा उठी थी। उसे पुनर्गठन और पुर्नस्थापना के लिए समय की आवश्यकता थी। उसकी जनता, खासतौर पर उसके सैनिक कर्मचारी, युद्ध से थक गये थे और साम्राज्य की रक्षा के लिए मुसीबतों में पड़े रहने को तैयार नहीं थे। चुनाव में कनजरवेटिव दल पराजित हो चुका था। ऐसा सोचने का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि भारत में परिस्थिति बिल्कुल बदल गयी थी और ब्रिटेन के लिये उस पर आगे कब्जा जमाये रखना संभव नहीं था। आजाद हिंद फौज के मुकद्दमे की सुनवाई से निर्णयात्मक ढंग से यह साबित हो गया था कि राष्ट्र को दमन के भय के कब्जे में नहीं रखा जा सकता। वह अस्पष्ट वायदों से संतुष्ट नहीं होगा। भारत की युद्ध की भावना उभर गयी थी और यदि राष्ट्रवादियों की मांगें ठीक ढंग से स्वीकार नहीं की गयीं तो परिस्थिति विस्फोटक हो जायेगी। फरवरी, 1946 में बंबई में भारतीय नौसेना के अज्ञापित नाविकों का विद्रोह, भारतीय वायुसेना में हड़तालें और जबलपुर के भारतीय सिगनल कोर के असंतोष की अभिव्यक्ति, इन सभी ने इसकी बिना शुबहा सिद्धि कर दिया था। उनकी मदद से राष्ट्रीय आंदोलन को दबाना या खत्म करना खतरे से खाली नहीं होता। इसके अलावा सारे ब्रितानी भारत और रियासतों में हड़तालों और प्रदर्शनों की संख्या बढ़ती जा रही थी।

अतः ब्रितानी सरकार ने सत्ता का हस्तांतरण करने और उससे संबद्ध तात्कालिक और लंबे समय की व्यवस्थाओं के विवरण तैयार करने का फैसला किया। उसने एक मंत्रिमंडलीय मिशन भारत भेजा। विभिन्न दलों और संगठनों के प्रतिनिधि नेताओं से लंबे और विस्तृत विचार–विमर्श के बाद मिशन ने अपनी योजना घोषित की जिसे कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार किया। लेकिन बाद में योजना के अर्थ को लेकर मतभेद पैदा हो गये। वैवेल उत्सुक थे कि अंतरिम सरकार की स्थापना जितनी जल्दी संभव हो, कर दी जानी चाहिए। अंततः सितंबर, 1946 में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने ऐसी सरकार का गठन किया। अक्तूबर में मुस्लिम लीग भी मंत्रिमंडल में शामिल हो गयी लेकिन उसने संविधान निर्माण में शमिल ने होने का फैसला किया। ब्रितानी प्रधानमंत्री क्लीमेंट इटली ने 20 फरवरी, 1947 को घोषणा की ब्रिटेन अधिक से अधिक जून 1948 तक सत्ता भारत कौ सौंप देगा।

सत्ता के हस्तांतरण की व्यवस्था करने के लिए लार्ड लुई माउंटबेटन को वायसराय बनाकर भारत भेजा गया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच भयंकर मतभेद पैदा हो गये थे लेकिन इसके

बावजूद उन्होंने एक समझौता-योजना तैयार कर ली। साथ ही सत्ता के हस्तांतरण की तारीख भी निश्चित कर दी जो घोषित तिथि से सालभर से अधिक पहले की थी। भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्र होगा, लेकिन उसका विभाजन हो जायेगा। पश्चिमी क्षेत्र के पंजाब, पश्चिमोतर सीमा प्रांत, सिंध और बलूचिस्तान और बंगाल का पूर्वार्द्ध और आसाम का सिलहट जिला मिलाकर पाकिस्तान नाम का एक स्वतंत्र देश बनेगा (और उसका उद्घाटन भी उसी समय होगा)। वैसा यह व्यवस्था भी की गयी थी कि पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और सिलहट की जनता की इच्छा का पता लगाने के लिए बाद में जनमत कराया जायेगा।

स्वतंत्रता मिलने का गर्व और विभाजन के दुख, उदासी और उसके परिणामों में घुल गयी। लेकिन राष्ट्र निराश नहीं था। स्वतंत्रता तो पहला कदम था। भारत में आत्मविश्वास, निष्ठा और उम्मीद के साथ स्वतंत्रता, जनतंत्र और सामाजिक न्याय की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए अपने कदम बढ़ाना शुरू किये।

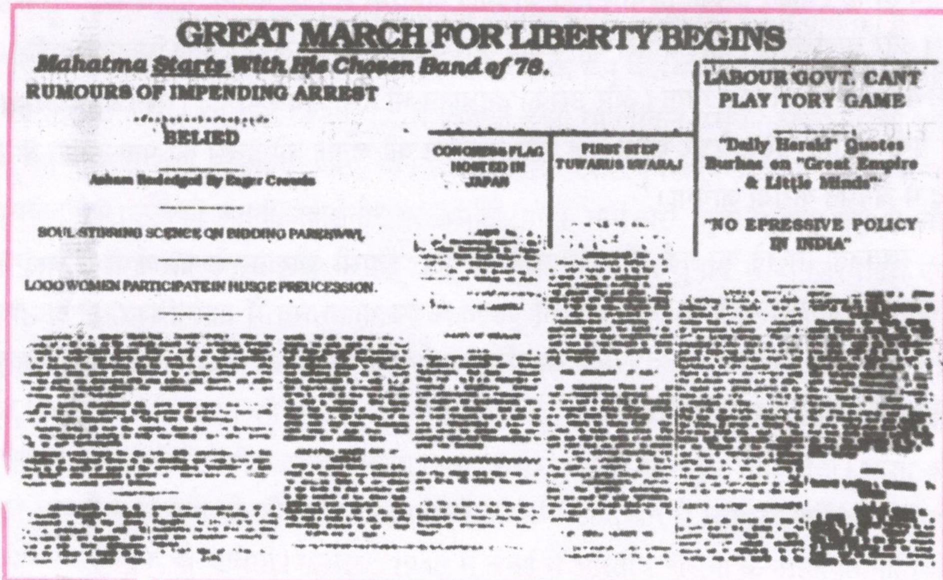

GREAT MARCH FOR LIBERTY BEGINS

Mahatma Starts With His Chosen Band of 78.

RUMOURS OF IMPENDING ARREST

BELIED

SOUL-STIRRING SCENCE ON BIDDING PARISWAVI.

LOOO WOMEN PARTICIPATE IN HUSGE PREUCESSION.

CONGRESS FLAG HOISTED IN JAPAN

FIRST STEP TUWARUS SWARAJ

LABOUR GOVT. CANT PLAY TORY GAME

"Daily Herald" Quotes Burhas on "Great Empire & Little Minds"

"NO EPRESSIVE POLICY IN INDIA"

स्वतंत्रता-प्रयाण

दांडी में गांधीजी द्वारा कानून भंग

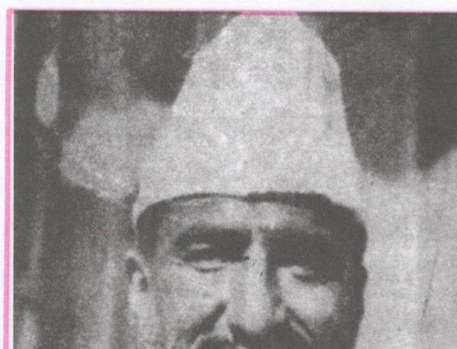

खान अब्दुल गफ्फार खां

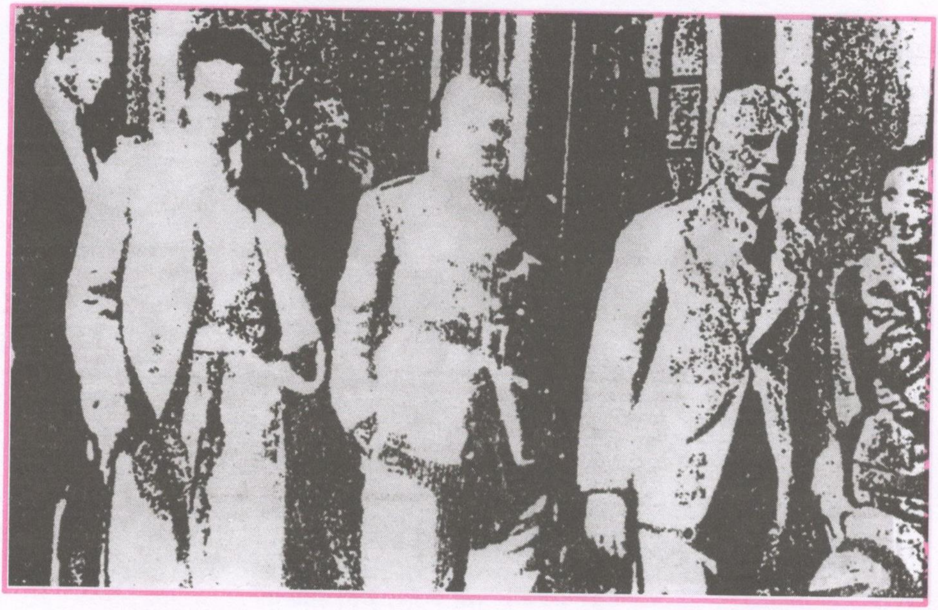

कृष्ण मेनन, जनरल लिस्टर, जवाहरलाल नेहरू – स्पेन, 1938

एस ए डांगे

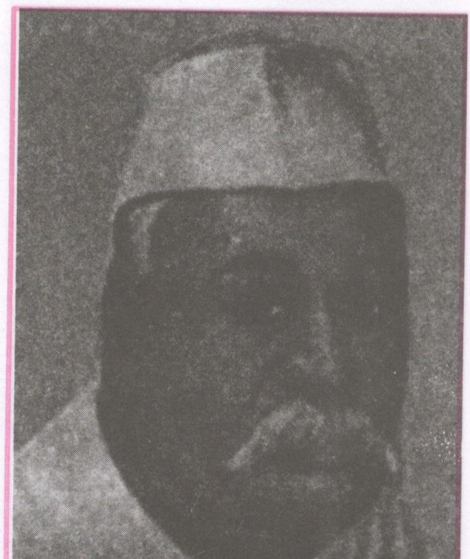

गोविन्द वल्लभ पंत

गांधीजी, नेहरू और देसाई

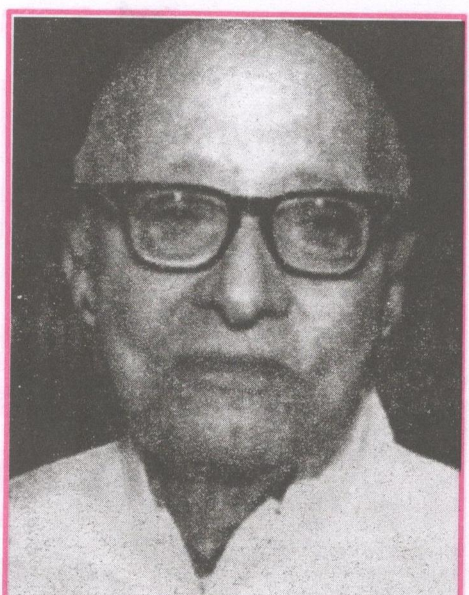

सी राजगोपालाचारी

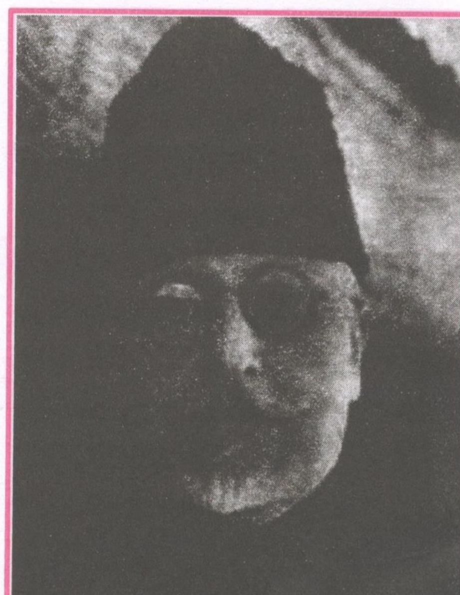

अबुल कलाम–आजाद

आजाद हिंद फ़ौज की महिला रेजिमेंट

जय प्रकाश नारायण

राम मनोहर लोहिया